सन्मति साहित्य रत्नमाला का १०० वा रत्न

धर्म और दर्शन

लेखक
परम श्रद्धेय पंडित प्रवर श्री पुष्करमुनि जी महाराज
के सुशिष्य
देवेन्द्रमुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

प्रास्ताविकी

भारतीय चिन्तन का निचोड़ है आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को जिस व्यग्रता तथा समग्रता के साथ भारतीय धर्म एवं दर्शन ने समझने का प्रयास किया है, उतना प्रयास न यूनान के चिन्तकों ने किया है और न यूरोप के विचारकों ने ही। भारतीय धर्म और दर्शन में जड़ प्रकृति का वर्णन व विवेचन भी है किन्तु वह विवेचन मुख्यतः चैतन्य के स्वरूप को समझने के लिए है, उसकी मीमांसा करने के लिए है। जब कि पाश्चात्य दर्शनों में आत्मा का जो वर्णन किया गया है वह मुख्यतः जड़ प्रकृति को समझने के लिए है। जड़ प्रकृति की समीक्षा करने के लिए ही उन्होंने आत्मा का निरूपण किया है। यह प्रत्यक्ष सचाई है कि भारतीय दर्शन आत्मा की खोज का दर्शन है, और पाश्चात्य दर्शन जड़ प्रकृति की खोज का। भारतीय दर्शन अध्यात्म प्रधान है और पाश्चात्य दर्शन भौतिकता प्रधान।

भारतीय चिन्तन की अन्तिम परिणति मोक्ष है। मोक्ष साध्य है, धर्म और दर्शन उसकी साधना है। पाश्चात्य दर्शन की तरह भारतीय दर्शन ने धर्म और दर्शन को एक-दूसरे का विरोधी नहीं माना, किन्तु एक दूसरे का सहचर और सहगामी माना है। दर्शन सत्य की मीमांसा तर्क के द्वारा करता है तो धर्म श्रद्धा के द्वारा। दर्शन विचार को प्रधानता देता है तो धर्म आचार को। दर्शन का अर्थ है 'सत्य का साक्षात्कार करना' और धर्म का अर्थ है उस सत्य को जीवन में उतारना। दर्शन हमें राह दिखाता है तो धर्म हमें उस राह पर चलने को प्रेरित करता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो धर्म, दर्शन की प्रयोगशाला है।

धर्म और दर्शन के मूलभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक में कुछ लिखा गया है। सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि पुस्तक लिखने की कल्पना प्रारम्भ में मेरे मन में नहीं थी और न निबन्ध इस दृष्टि से लिखे ही गये थे, समय-समय पर जो मैंने निबन्ध लिखे उन निबन्धों में से धर्म और दर्शन

मै देखता हूँ, कि सुकरात के वाद मे, ग्रीक दार्शनिको मे और यूरोपीय दार्शनिको मे, धर्म और दर्शन को लेकर पर्याप्त मत-भेद खडे हो गए है। किन्तु सुकरात ने विचार को ही धर्म एव आचार कह कर जैनपरम्परा का ही अनुगमन किया था। हमारे यहाँ पाँच आचारो मे एक ज्ञानाचार भी है, जिसका अर्थ है—ज्ञान ही स्वयं आचार वनता है। जो कुछ विचार है, वही आचार है, और जो कुछ आचार है, वही तो विचार है। श्रमणो की परम्परा मे, विचार और आचार—दोनो को सहगामी माना है। इस अर्थ मे, विचार ही दर्शन है, और आचार ही धर्म है—दोनो सम्बद्ध एव पूरक है।

भले ही आज हम पाश्चात्यो का अन्ध अनुकरण करके धर्म के लिए religion और दर्शन के लिए Philosophy शब्द का प्रयोग और उपयोग करे, परन्तु जो गम्भीरता और व्यापकता धर्म और दर्शन मे है, वह religion और Philosophy मे नही है। क्योकि ये दोनो एकागी है, दोनो एक-दूसरे से निरपेक्ष है, सापेक्ष नही।

भारत के दार्शनिको ने कभी धर्म और दर्शन को अलग स्वीकार ही नही किया। यहाँ तो जो धर्म है, वही दर्शन है, और जो कुछ दर्शन है, वही धर्म भी है। इतना अन्तर तो अवश्य है, कि दर्शन मे तर्क की प्रधानता है, तो धर्म मे श्रद्धा की मुख्यता है। परन्तु तर्क धर्म मे वाधक नही, तो श्रद्धा भी दर्शन मे वाधक नही।

मै देखता हूँ, कि वेदान्त मे जो पूर्व मीमासा है, वही धर्म है। जो उत्तर मीमासा है, वही दर्शन है। योग आचार है, तो साख्य विचार है। वौद्ध परम्परा मे, दो पक्ष है—एक हीनयान और दूसरा महायान। महायान दर्शन वन गया, तो हीनयान धर्म वन गया। जैन परम्परा में भी मुख्यरूप से दो ही तत्त्व है—अहिसा और अनेकान्त, अहिसा धर्म वन गया और अनेकान्त दर्शन वन गया। भारत मे धर्म और दर्शन एक-दूसरे को छोडकर नही रह सकते हैं। मानव जीवन की साधना की धरती पर दर्शन को धर्म होना ही पड़ेगा और धर्म को भी दर्शन वनना ही पडेगा। यहाँ विचार को आचार होना होता है, और आचार को भी विचार होना होता है।

इसके विपरीत यूरोप और ग्रीस मे, धर्म और दर्शन, दोनो एक-दूसरे से अलग होकर जीवित रहने का प्रयत्न करते रहे है। और इस प्रयत्न मे, वे दोनो एक दूसरे से अलग ही नही हुए, वल्कि एक-दूसरे के विरोध मे भी खड़े

हो गए। आवश्यकता है, आज फिर इन दोनों में सहयोग और समन्वय की। तभी धर्म और दर्शन मानवी जीवन को सुन्दर बना सकेंगे।

भारतीय विचारक दर्शन और धर्म के सम्बन्ध में क्या सोचते रहे हैं? इस सम्बन्ध में लेखक ने अपनी पुस्तक में बहुत उद्धरण दिए हैं, जिससे विषय स्पष्ट हो जाता है। परन्तु थोड़ा परिश्रम करके पाश्चात्य विचारकों का भी मत यदि दे दिया होता, तो सोने में सुगन्ध हो जाती। शायद इधर लेखक का ध्यान गया ही नहीं।

पाश्चात्य लोग धर्म में तीन तत्त्वों को स्वीकार करके चलते हैं—Knowing, Feeling and Doing or Willing बुद्धि, भावना और क्रिया—तीनों के समवेत रूप को ही धर्म कहा गया है। बुद्धि का अर्थ है—ज्ञान, भावना का अर्थ है—श्रद्धा और क्रिया का अर्थ है—आचार। जैन परम्परा के अनुसार भी श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—तीनों धर्म ही हैं और ये तीनों ही मोक्ष के साधन भी हैं।

हीगल ने धर्म की जो परिभाषा की है, उसमें एकमात्र ज्ञानात्मक पहलू पर जोर दिया गया है। शेष दो अंशों की उसमें उपेक्षा की गई है। मैक्स मूलर ने भी हीगल का ही अनुसरण किया है। काण्ट ने धर्म की जो परिभाषा दी है, उस में उसने ज्ञानात्मक के साथ में क्रियात्मक पहलू पर भी ध्यान दिया है, परन्तु भावनात्मक पहलू की उपेक्षा कर दी है। लेकिन मार्टिन्यू ने धर्म की जो परिभाषा की है, उसमें विश्वास, विचार और आचार—तीनों का समावेश कर लिया गया है। अतः धर्म की यह अपने आप में पूर्ण परिभाषा है। एक प्रकार से इसमें धर्म और दर्शन के साथ में भक्ति को भी समेट लिया गया है। इसका अर्थ यह है, कि धर्म के क्षेत्र में भक्ति, ज्ञान और कर्म—तीनों का समन्वय है।

आज के नवयुग के चिन्तन में से एक नया प्रश्न खड़ा हो रहा है, कि धर्म और विज्ञान का क्या सम्बन्ध है? धर्म Religion और विज्ञान Science में क्या कुछ भेद है, और यदि है, तो वह क्या है? इस विषय पर विस्तार के साथ में विचार करने का न समय है और न प्रसंग ही। फिर भी दोनों का स्वरूप ज्ञान तो आवश्यक ही है। विज्ञान का उद्देश्य कार्य-कारण सिद्धान्त के द्वारा वस्तुओं के बीच स्थिरता कायम करना है। परन्तु विज्ञान से जब पूछा जाता है कि कार्य-कारण की शृंखला—एक व्यवस्था का निर्माण किस प्रकार

प्र का श की य



धर्म और दर्शन का महत्वपूर्ण प्रकाशन प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता है।

इस पुस्तक मे श्री देवेन्द्र मुनि जी ने धर्म और दर्शन के सम्बन्ध मे बहु-प्रचलित भ्रान्तियाँ, और अज्ञानमूलक धारणाओ के परिष्कार के साथ ही धर्म और दर्शन की मौलिक स्थापनाओ का, उसकी विविध प्रक्रियाओ का सदसर्भ जो शास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह नई पीढ़ी के नये विचार-शील युवको के लिए पठनीय एवं मननीय है।

श्री देवेन्द्र मुनि जी, शास्त्री स्थानकवासी समाज के उदीयमान साहित्य-कार है। सतत अध्ययन और नवलेखन उनकी रुचि Hoby है।

सन्मति ज्ञान पीठ अपनी विशुद्ध सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप मौलिक और महत्वपूर्ण प्रकाशनों को प्रस्तुत करती रही है। इससे पूर्व मुनि श्री की एक खोजपूर्ण कृति "ऋषभदेव. एक परिशीलन" भी प्रकाशित हो चुकी है। आशा है उस पुस्तक की तरह प्रस्तुत पुस्तक का भी सर्वत्र उत्साह के साथ स्वागत किया जायेगा।

पर्युषण के अवसर पर पुस्तक सम्पन्न करने का हमारा संकल्प था। समय अत्यन्त कम था, किन्तु फिर भी कार्य यथासमय सम्पन्न हो सका, इसकी हमे अत्यन्त प्रसन्नता है।

पुस्तक के प्रूफ संशोधन मे ज्ञानपीठ के कार्यकर्त्ता श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' तथा मुद्रण मे श्री विष्णु प्रेस के मालिक श्री रामनारायण जी मेड़तवाल का सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

मन्त्री

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा २

अनुक्रम

धर्म और दर्शन

एक धर्म और दर्शन

मानवमस्तिष्क जिज्ञासाओं का महासागर है। उसमें विविध प्रकार के चिन्तन की ऊर्मियाँ उठती ही रहती हैं। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के विषय में अनेक विध प्रश्न उद्भूत होते रहते हैं। "मैं क्या हूँ ? कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं ? होगा तो कहाँ, किस रूप में होगा ?"[1] ये कतिपय प्रश्न उन प्रश्नों में से हैं, जो अपने अन्तर्जगत् के विषय में उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी मनुष्य को बेहद परेशान कर देते हैं।

इसी प्रकार बहिर्जगत् के सम्बन्ध में भी सैकड़ों जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। हमारे चारों ओर फैला हुआ यह विशाल विश्व, जिसका कहीं ओर छोर नजर नहीं आता, क्या है ? यह प्राणिसृष्टि और जड़ सृष्टि क्या है ? विश्व की आदि है या नहीं ? है तो कब इसकी रचना हुई ? विश्व का अन्त होगा या यह शाश्वत है ? अन्त होगा तो कब होगा ?

---

१ पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा पच्चत्थिमाओ वा उत्तराओ वा उड्ढाओ वा अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि ? एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए ? के अहमंसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

—आचारांग १-१

(ग) कोऽहं कीदृश कुत आयात ?

—चर्पट पंजरिका, आचार्य शंकर

इन प्रश्नो के समाधान के दो उपाय है—निष्ठा और तर्क। निष्ठा से धर्म का जन्म होता है और तर्क से दर्शन का। किन्तु धर्म और दर्शन, दोनो विषय अत्यन्त गम्भीर है और उनमे व्यापक भाव निहित है। अतएव उचित होगा कि उनके सम्बन्ध मे यहा संक्षेप मे विचार कर लिया जाए।

धर्म क्या है ?

'धर्म' एक बहुप्रचलित शब्द है। इस देश में अधिक से अधिक प्रचलित और प्रयुक्त होने वाले शब्दो मे 'धर्म' शब्द की गणना की जा सकती है। पठित और अपठित सभी वर्गो के लोग दैनिक व्यवहार मे सहस्रो वार इस शब्द का प्रयोग करते है। फिर भी निस्संकोच कहा जा सकता है कि धर्म के मर्म को पहचानने वाले बहुत कम लोग है। अधिकांश लोग जाति एवं समाज में पुरातन काल से चली आती परम्पराओं, रूढ़ियों या धारणाओ मे धर्म की कल्पना कर लेते है और उन्ही के पालन को धर्म का पालन मान लेते है। उन्ही का पालन करके वे सन्तुष्ट हो जाते हैं और अन्तिम समय तक धोखे मे रहते है।

समाज मे एक वर्ग ऐसा है, जो धर्म के विषय मे प्रमाणभूत समझा जाता है। किन्तु दुर्भाग्य से उसमे भी अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जो धर्म की वास्तविकता से अनभिज्ञ होते है। अन्धे के नेतृत्व मे चलने वाले अन्धो की जो गति होती है, वही जनसाधारण की भी गति होती है।

धर्म का सम्बन्ध कई लोग लौकिक कर्त्तव्यो या वर्त्तमान जीवन के साथ ही जोड़ते है, तो कई लोग सिर्फ आत्मा के शाश्वत कल्याण के साथ। किन्तु सूक्ष्म और गंभीर विचार करने पर विदित होगा कि धर्म वास्तव मे एकागी नही है। उसमे मनुष्य के लौकिक और आध्यात्मिक सभी कर्त्तव्यों का समावेश होता है। मनुष्य को अपनी आत्मशुद्धि के लिए या अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि के लिए जिन नियमो या विधि-निषेधो का अनुसरण करना चाहिए, उनका समावेश तो धर्म में होता ही है, मगर उसके समस्त लौकिक कर्त्तव्य भी धर्म के अन्तर्गत ही हैं। मनुष्य का अन्य प्राणियो के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? अगर

वह ग्रामवासी है तो ग्राम के प्रति, नगर निवासी है तो नगर के प्रति और जिस राष्ट्र का नागरिक है, उस राष्ट्र के प्रति उसका किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए? अन्तत समग्र विश्व के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है? इन सब कर्त्तव्यों का समावेश धर्म मे होता है। यही कारण है कि हमारे दीर्घदृष्टि शास्त्रकारों ने जहाँ आत्मधर्म का निरूपण किया है वहीं ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदि का प्रतिपादन भी किया है[2] और समग्र विश्व के कल्याण की कामना करने की भी प्रेरणा की है।[3] और यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि विश्वकल्याण की कामना कोरी कामना ही नही है, वरन् उसके लिए यथाशक्ति प्रयास करना भी उसमे गर्भित है। विश्व के हित की कामना की जाय, किन्तु तदनुकूल प्रयत्न न किया जाय तो वह कामना आत्मवञ्चना से अधिक और क्या होगी?

तथ्य यह है कि लोककल्याण और आत्मकल्याण दो पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य नही है। ये दोनो सम्मिलित होकर ही धर्म का रूप ग्रहण करते हैं। सच्चा धर्मनिष्ठ पुरुष लोककल्याण को आत्मकल्याण से भिन्न और आत्मकल्याण को लोककल्याण से भिन्न नहीं मानता। वह लोककल्याण को आत्मकल्याण के रूप मे ही देखता है और आत्मकल्याण का ही एक आवश्यक अंग मानता है। अतएव परोपकार वस्तुत आत्मोपकार ही है। नन्दीसूत्र की टीका इस सम्बन्ध मे अवलोकनीय है।

ऐसी स्थिति मे निश्चयनय के नाम पर या आत्मा के नाम पर धर्म को अत्यन्त सकीर्ण दायरे मे बन्द करने के जो प्रयास किए जा रहे है,

---

२ दसविधे धम्मे पण्णत्ते, तं० गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।

— स्थानांग १०-१

३ सर्वे भवन्तु सुखिन, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग भवेत्॥

(ख) क्षेमं सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल।
काले काले च सम्यग् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥

वे किसी भी प्रकार से उचित नही है। यही नही, किन्तु इन प्रयासो ने धर्म को खतरा उत्पन्न कर दिया है। जब समग्र विश्व वेग के साथ समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है, तब धर्म को एकान्त वैयक्तिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न देश और काल से भी विपरीत है। वास्तविकता तो उसमे है ही नही। यह सत्य है कि लौकिक कर्त्तव्य के नाम पर आत्मा के शाश्वत कल्याण की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, किन्तु यह भी सत्य है कि आत्मकल्याण के नाम पर लौकिक कर्त्तव्यो को दृष्टि से ओझल नही कर देना चाहिए।

जिसने धर्म के मर्म को पहचान लिया है वह आत्मकल्याण और लोककल्याण का सुन्दर समन्वय करके चलता है और उनमे किसी भी प्रकार विरोध नही उत्पन्न होने देता। यही धर्म की उदारता और व्यापकता है। जब तक धर्म मे यह उदारता और व्यापकता बनी रहेगी, वह किसी भी देश और काल मे अनुपादेय नही समझा जा सकेगा। अगर हम चाहते हैं कि मनुष्य का प्रत्येक कदम और प्रत्येक उच्छ्वास धर्म से अनुप्राणित हो, तो हमे धर्म के उदार स्वरूप की रक्षा करनी ही होगी। इस प्रकार धर्म हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, ऐहिक और पारलौकिक कर्त्तव्यो का नियामक और सचालक है। धर्म से हमारा जीवन संगीतमय बनता है और साथ ही शिवमय भी। मनुष्य ने अनेक कलाओ का आविष्कार किया है, किन्तु धर्म कला उन सब मे उत्तम है,[४] जो जीवन को स्थायी सत्य, शिव और सौन्दर्य से आपूरित कर देती है।

आचार्य हरिभद्र ने धर्म की प्रशस्ति करते हुए लिखा है—"धर्म से उत्तम कुल मे जन्म लेने की प्राप्ति होती है, धर्म से ही दिव्य रूप की, धन समृद्धि की और सुविस्तृत कीर्त्ति की प्राप्ति होती है। धर्म अनुपम मंगल है, समस्त दु:खो की अनुपम औषध है, धर्म विपुल बल है, धर्म ही प्राणियो के लिए त्राण और शरण है।

अधिक क्या कहा जाय, समस्त जीवलोक मे इन्द्रियों और

---

४. सव्वा कला धम्मकला जिणेइ।

—गौतमकुलक

मन को जो भी अभिराम प्रतीत होता है, वह सब धर्म का ही फल है[५]।'

इस कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का सम्बन्ध न केवल आध्यात्मिक श्रेयस् से है, अपितु हमारे वर्तमान जीवन के साथ भी है।

धर्मव्याख्या

धर्म शब्द का व्याकरण शास्त्र के अनुसार अर्थ है—धारण करना। जो धारण करता है वह धर्म है।[६] 'धृञ्' धातु से 'मत'[७] या 'म'[८] प्रत्यय जोड़ने पर 'धर्म' शब्द निष्पन्न होता है। जो दुर्गतिपात से प्राणियों को बचाता है, वह धर्म है[९]। कणाद के कथनानुसार जिससे अभ्युदय

---

५ धम्मेण कुलप्पसूइ धम्मेण य दिव्वरूवसपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी, धम्मेण सुवित्थडा कित्ती॥
धम्मो मगलमउल, ओसहमउल च सव्वदुक्खाण।
धम्मो बलमवि विउल, धम्मो ताण च सरण च॥
कि जपिएण बहुणा, ज ज दीसइ सव्वत्थ जियलोए।
इदियमणाभिराम, त त धम्मफल सव्व॥

—समराइच्चकहा

६ धारणाद् धर्ममित्याहु।

—मनु

(ख) धारणाद् धर्म उच्यते।

—महाभारत, कर्ण पर्व

७ धृञ् धारणे, अस्य धातोमत् प्रत्ययान्तस्येद रूपम् धर्म इति।

—दशवै० जिन० चूर्णि पृ० १४

८ धृञ् धारणे, इत्यस्य धातोर्मप्रत्ययान्तस्येद रूपम् धर्म इति।

—दशवै० हारि० टीका, पत्र २०

९ यस्माज्जीव नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतन्त धारयतीति धर्म, उक्तञ्च—

दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते तत।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने तस्माद् धर्म इति स्थित॥

—दशवै० जिन० चूर्णि० प० १५

अर्थात् स्वर्ग की और निश्रेयस् अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह धर्म है[10]।

'धर्म' शब्द की उल्लिखित व्युत्पत्तियां शब्द और अर्थ की दृष्टि से मिलती-जुलती है। किन्तु आध्यात्मिक परम्परा के मूर्धन्य सन्त आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की जो परिभाषा की है, उसमे जैन दृष्टि की विशिष्टता स्पष्ट प्रतिभासित होती है। उन्होने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है[11]। वस्तु का स्वभाव धर्म किस प्रकार है, इसका स्पष्टीकरण ध्यानयोगी आचार्य रामसेन ने किया है, जो इस प्रकार है—समस्त विश्व पर्यायो को दृष्टि से क्षण-क्षण में विनष्ट हो रहा है। सचेतन हो या अचेतन, सभी पदार्थ प्रतिक्षण नाश को प्राप्त हो रहे हैं। निरन्तर प्रवर्त्तमान इस विनाशलीला में भी वस्तु का मूल स्वभाव वस्तु को धारण किये रखता है, कायम रखता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से धृत है, अवस्थित है, अतएव वस्तु का स्वभाव धर्म है। उदाहरणार्थ—जीव पर्याय की दृष्टि से विनाशशील होने पर भी अपने चैतन्यस्वभाव से सदा धृत अर्थात् ध्रुव रहता है, इस कारण चैतन्य जीव का धर्म है। प्रतिक्षण विनष्ट होते हुए पुद्गल को उसका मूर्त्तिकत्व स्वभाव धारण किए रहता है, अर्थात् अस्तित्व मे रखता है, अतएव मूर्तिकता पुद्गल का धर्म है[12]।

आचार शास्त्र की दृष्टि से अहिसा, संयम और तप धर्म है[13]। धर्म उत्कृष्ट मगल है।

इन सभी व्याख्याओ का समन्वय करते हुए कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमा आदि दश प्रकार का भाव

---

१०. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

— वैशेषिक दर्शन

११. वत्थुसहावो धम्मो।

१२. शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि, प्राहुर्धर्मं महर्षयः॥

—तत्त्वानुशासन, ५३

१३. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिसा संजमो तवो।

—दशवै० अ० १ गा० १

धर्म है, सम्यग्दशन ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है और जीवो का रक्षण करना धर्म है[१४]।

आचाय समन्तभद्र के कथनानुसार धर्म वह है, जो प्राणियो को सासारिक दु खो से बचाता है और उत्तम सुख मे धारण करता है[१५]।

धर्म की इन अनेक व्याख्याओ के उल्लेख का प्रयोजन यह है कि पाठक धर्म के व्यापक स्वरूप को हृदयङ्गम कर सकें। उल्लिखित व्याख्याएँ स्पष्ट प्रकट करती है कि जीवन को उच्च पवित्र और दिव्य बनाने वाले जो भी विधिविधान या क्रियाकलाप है, वे सभी धर्म के अन्तगत है।

सक्षेप मे, दशवैकालिक सूत्र म प्रदर्शित धम के स्वरूप के प्रकाश म कहा जा सकता है कि जो उत्कृष्ट मगल है वही धम है। मगल शब्द का अथ है—पाप या बुराइयो का नाश और सुख या कल्याण की प्राप्ति। तात्पय यह हुआ कि जो आचारप्रणालिका हमारे जीवन को पाप की कालिमा से बचाती है, जीवनगत बुराइया को दूर करती है और जिससे कल्याण का पथ प्रशस्त होता है वही धम है। इस व्यापक परिभाषा से जैनागमप्रतिपादित धम सार्वभौम धर्म का दर्जा प्राप्त कर लेता है। जिससे आत्मा का मगल हो वह आत्म धर्म है जिसस राष्ट्र का मगल हो वह राष्ट्रधर्म है और जिस आचारप्रणाली से विश्व का मङ्गल हो, वह विश्वधर्म है। इसी प्रकार यह परिभाषा सभी समाजो, वर्गों और वर्णो पर लागू होती है।

'चोदनालक्षणो धर्म' अर्थात् वेद से मिलने वाली प्रेरणा धम है, यह परिभाषा जैसे एक ग्रन्थविशेष पर आधारित होने के कारण सकीर्ण है, उस प्रकार जैनपरिभाषा म लेशमात्र भी सकीर्णता नही है।

---

१४ धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो, जीवाण रक्खण धम्मा॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८

१५ ससारदु खत सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे।
—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

भारत और धर्म

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश के नाम से विख्यात है। भारत की यह ख्याति आधुनिक भारतीय जीवन के कारण नहीं, वरन् इस कारण है कि इतिहासातीत काल से भारत की प्रजा का जीवन धर्म से अनुप्राणित रहा है। जब से मानव समाज का निर्माण हुआ, सभ्यता और संस्कृति का नवोन्मेष हुआ, तभी से प्रजा के एक विशिष्ट वर्ग ने धर्मसम्बन्धी चिन्तन और उसके प्रचार-प्रसार के लिए अपना जीवन समर्पित किया और उस वर्ग की परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। उस वर्ग को भारतीय प्रजा ने अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पित की और अपना उद्धारक माना है। भारत कभी ऐश्वर्य या वैभव का उपासक नहीं रहा, उसने सदा धर्म की आराधना की है। चक्रवर्ती सम्राट् भी धर्मप्राण सन्तों के चरणों मे विनम्रभाव से नतमस्तक होते आए है। धर्म की रक्षा मे ही हमारी रक्षा है,[१६] यह भारत के मनीषियों का उद्घोष रहा है। भारतीय साहित्य मे धर्म की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान करने वाले वीर पुरुषों और नारियों के सहस्रों उदाहरण विद्यमान है, जो आज भी प्रेरणा के स्रोत है। इस प्रकार भारत को धर्म प्रधान देश कहने मे तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। भले आज आचरण मे धर्म की न्यूनता दृष्टिगोचर होती हो परन्तु भारतीय जनमानस धर्म के प्रति आज भी सर्वाधिक आस्थावान् है।

धर्मसम्बन्धी भ्रम

विज्ञानप्रदत्त सुविधाओ के कारण आज समग्र विश्व जैसे एकाकार हो गया है। प्रत्येक देश का दूसरे समस्त देशो के साथ निकटतम सम्पर्क स्थापित हो गया है। ऐसी स्थिति मे वांछनीय तो यह था कि भारतीय धर्म एव संस्कृति का सदेश समग्र विश्व मे फैलता, किन्तु ऐसा हो नहीं रहा है। जो देश वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत और इसी कारण सबल है, उनका प्रभाव हमारे देश पर बड़ी तेजी से पड़ रहा है। उनकी विचारधारा भी भारतीयों को प्रभावित कर रही है। उसके फलस्वरूप धर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के भ्रमो की सृष्टि

१६. धर्मो रक्षति रक्षित.।

हुई है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि धर्म जीवन को रूखा बनाता है। कइयों की धारणा है कि आत्महित को प्रधानता देकर धर्म मनुष्य को स्वार्थपरायण बना देता है। किसी किसी का आक्षेप है कि धर्म त्याग, संन्यास या निवृत्ति का विधान करके और उस पर अत्यधिक बल देकर मनुष्य को जीवनसंघर्ष से दूर भागने की प्रेरणा करता है, तो कई लोग धर्म को कलह का मूल कहते हैं।

ये सभी भ्रम धर्म के वास्तविक स्वरूप के नहीं, अपितु अज्ञान के फल हैं। धर्म की जो प्रमाणोपेत व्याख्या हमने प्रस्तुत की है, उसी से इन सब भ्रमों का निवारण हो जाता है। धर्म से जीवन नीरस नहीं, मर्यादित बनता है। सरसता का अर्थ यदि मर्यादाहीन उच्छृंखल विहार समझा जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा धर्म का ऐसा कोई भी विधान नहीं है जो जीवन में नीरसता उत्पन्न करता हो। व्यक्ति को स्वार्थ परायण बना देने का आक्षेप तो एकदम ही निराधार है, क्योंकि धर्म प्राणिमात्र को आत्मवत् समझने की प्रेरणा करता है और परोपकार को आत्मोपकार ही मानने की शिक्षा देता है। जैनशास्त्र का विधान है कि मुमुक्षु को स्व-पर के प्रति समभावी होना चाहिए और अपनी विशिष्ट आत्मशुद्धि के लिए विशेष रूप से परोपकार करने का यत्न करना चाहिए।[17]

जो त्यागवृत्ति अंगीकार करता है, प्रव्रज्या ग्रहण करता है, या सन्यास धारण करता है, क्या वह जीवनसंघर्ष से दूर भागता है? नहीं, गृहस्थी की सुख-सुविधाओं का परित्याग करके जो व्यक्ति त्याग के पथ को अंगीकार करता है, वह बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को, कष्टों को और अभावों को समभाव से सहन करता है। वह उन सबसे जूझने के लिए कृतसंकल्प होता है। महावीर और बुद्ध दोनों राजकुमार थे। संसार के उत्तम से उत्तम सुखसाधन उन्हें अनायास उपलब्ध

---

१७ निःश्रेयसपदमधिरोढुकामेन सदैवात्मवत् स्वपरसममानसीभूय स्वपरोपकाराय यतितव्यम्। तत्रापि महत्यामात्मविशुद्धौ परोपकृति र्न तु भवते, इत्यात्मविशुद्धिप्रकर्षसम्पादनाय विशेषतः परोपकार यत्न धारणीय।

—मलयगिरि टीका, मलयगिरि

थे। राजमहलो मे उन्हे किसी प्रकार का कष्ट नहीं था, दुःख नहीं था। फिर किस लिए उन्होंने राजकीय वैभव को तृण की तरह त्यागकर तपश्चर्या का पथ अंगीकार किया? खासतौर से भगवान् महावीर का जीवन तो निराला ही है। वे आए हुए संकटो को ही अविचल भाव से सहन नहीं करते थे, किन्तु संकटो को आमन्त्रित भी करते थे और उनको पराजित करने मे आत्मिक वीर्य का सदुपयोग करते थे।

'धर्म कलह का कारण है'—इस कथन मे भी कोई सचाई नहीं है। धर्म कलह को पाप और आत्मपतन मानता है। वह विश्वमैत्री पर बल देता है। अनेकान्त दर्शन ने समस्त दर्शनो के मतभेदो का निवारण करने का मार्ग सुझाया है। दक्षिण भारत मे शैवो द्वारा जैनो के प्रति किए गए प्राणहारी अत्याचार, ईसाइयों मे रोमन कैथोलिको और प्रोटेस्टेटो के बीच हुए संघर्ष और भारत के हिन्दू-मुस्लिम दंगे आदि मे क्या वास्तव मे धर्म का हाथ है? संसार का कोई भी धर्म, अन्य धर्मावलम्बियो का गला काटने का उपदेश नहीं देता। यह करतूतें तो उन अधार्मिक लोगो की हैं जो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए धर्म के पवित्र नाम का दुरुपयोग करते है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझना भी इसका कारण हो सकता है। धर्मसम्बन्धी अज्ञान धर्मोन्माद को जन्म देता है और लोग धर्म और धर्मोन्माद में भेद न करके धर्म पर लाञ्छन लगाते है। वस्तुत धर्म का उससे कोई सरोकार नही होता।

धर्म और पन्थ

ऐसे लोगो की सख्या भी कम नही है, जो विविध पन्थो को ही धर्म मानते है। किन्तु धर्म और पन्थ मे बहुत अन्तर है। धर्म एक है, पन्थों की गणना करना भी सम्भव नही है। धर्म शाश्वत है, पन्थ सामयिक होते है। धर्म को यदि सरोवर मान लिया जाय तो पन्थ उसमे उठने वाली एक लहर है। युग की समाप्ति के साथ पन्थ समाप्त हो जाते है, जब कि धर्म त्रिकाल-अबाधित है। धर्म के अभाव मे सृष्टि के अस्तित्व की कल्पना ही नही की जा सकती।

भारतीय साहित्य मे धर्म की विस्तृत और सूक्ष्मतम विवेचना की

गई है। विभिन्न वर्गों के लिए धर्म की विविध श्रेणियां प्रदर्शित की गई है, पर विस्तार भय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता।

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि धर्म और दर्शन एक सिक्के के दो बाजू है। मानव जीवन के साथ जैसे धर्म का सम्बन्ध है वैसे ही दर्शन का भी। धर्म आचारपक्ष है, दर्शन विचारपक्ष है।

दर्शन क्या है ?

दर्शन का सामान्य अर्थ दृष्टि है[१८]। प्रस्तुत दृष्टि को अंग्रेजी भाषा में विज़न (Vision) कहते है। साधारणत प्रत्येक व्यक्ति, जिसे नेत्र प्राप्त हैं, देखता ही है, मगर यहाँ पर वह साधारण दृष्टि विवक्षित नहीं है। दर्शन का सही अर्थ दिव्य दृष्टि है, जिसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

दर्शन मानव मस्तिष्क की बौद्धिक उपज कहा जाता है। इस कथन में आंशिक सत्य है, किन्तु पूर्ण सत्य नहीं। जगत् में अनेक दर्शन ऐसे भी है जो मानव मस्तिष्क के चिंतन-व्यायाम से उद्भूत है, किन्तु अल्पज्ञ का मस्तिष्क, चाहे जितना भी उर्वर क्यों न हो, तत्त्व के सम्पूर्ण स्वरूप का स्पर्श नहीं कर सकता। मस्तिष्क की दौड़ की एक सीमा है। उसमें सीमित सत्य ही समा सकता है, किन्तु जब मनुष्य अति विश्वास का शिकार होता है और अपनी अक्षमता को स्वीकार न करके अपने आपको सर्वसमर्थ समझ बैठता है तो वह अपने द्वारा दृष्ट, अपूर्ण सत्य को पूर्ण समझ लेता है। उसे यह मालूम नहीं होता कि मैंने जो कुछ देखा, जाना या समझा है। उससे आगे भी बहुत कुछ है। वह उन अन्धों की टोली का ही एक सदस्य बन जाता है जो हाथी के एक एक अंग को ही परिपूर्ण हाथी समझ कर आपस में झगड़ने लगते हैं।

---

१८ दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्।

—षड्दर्शन समुच्चय टीका

सत्य एक है, किन्तु उसका निरूपण करने वाले दर्शन अनेक हैं और उनका निरूपण परस्पर विरोधी है। आत्मभिन्न पदार्थों की बात छोड़िए और आत्मा को ही लीजिए। उसके विषय में जितने मुँह उतनी बातें है। एक दर्शन का निरूपण दूसरे दर्शन से मेल नही खाता। एक दर्शन आत्मा के अस्तित्व का एकान्त निषेध करता है और दूसरा एकान्त विधान करता है। आत्मासम्बन्धी ये दोनों दृष्टियाँ क्या सत्य है? सत्य कोई बहुरूपिया नही है, जो एक को अपना एक रूप और दूसरे को दूसरा रूप प्रदर्शित करे। इसके अतिरिक्त बहुरूपिया का भी असली रूप तो एक ही होता है। उसके अनेक रूप अवास्तविक है। तात्पर्य यह है कि मानवमस्तिष्क से उपजने वाले दर्शनों मे पूर्णता सम्भव नही है।

पूर्ण सत्य की उपलब्धि करने वाला दर्शन वही हो सकता है, जो दिव्यदृष्टि से उद्भूत होता है। दिव्यदृष्टि का अर्थ है— अतीन्द्रिय ज्ञान। तीव्र तपश्चर्या और गम्भीरतम आत्मानुभूति जब चरम सीमा को प्राप्त होती है, तब साधनानिरत पुरुष की आत्मा समस्त आवरणों को छिन्न-भिन्न करके अनन्त ज्ञान की लोकोत्तर ज्योति से जगमगाने लगती है। वह ज्योति इतनी निर्मल होती है कि उसमे प्रत्येक वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रतिभासित होती है। वह ज्योति इतनी पूर्ण होती है कि जगत् की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी उससे अप्रकाशित नही रहती। वह ज्योति ऐसी अप्रतिहत होती है कि देश और काल की दीवारें उसकी गति को नही रोक सकती। वह ज्योति इतनी प्रखर होती है कि उसे प्राप्त करने वाला सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है।

दिव्यदृष्टि से उद्भूत दर्शन ही वास्तविक दर्शन है। वही वस्तुस्वरूप की यथार्थता का निदर्शक होता है। वह तर्क और युक्ति का संबल लेकर वस्तु के प्रत्येक पहलु पर चिन्तन करता है।

उद्देश्य

जैसा कि प्रारम्भ मे कहा जा चुका है, भारत मे धर्म और दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है और वे एक दूसरे के पूरक है। दोनो का

उद्देश्य एक ही है—अपवर्ग, निःश्रेयस्, विदेह दशा, निर्वाण, आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति या ब्रह्म की प्राप्ति।

मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—जिससे मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करूँ? जो अमृतत्त्व का साधन हो, वही मुझे बताओ।[19]

इषुकार नरेश से रानी कमलावती कहती है—राजन् धर्म के अतिरिक्त कोई भी वस्तु त्राणप्रदाता नहीं है।[20]

इस प्रकार मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत दर्शन की माँग करती है और महारानी कमलावती अपने पति को मोक्ष के साधनभूत धर्म को ही त्राणप्रद बतलाती है। इन सम्वादों से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और दर्शन दोनों का स्वर एक है।

पाश्चात्य विद्वान् धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् मानते हैं। उन्होंने दर्शन के लिए फिलासफी (Philo ophy) शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है—बुद्धि का प्रेम (Love of wisdom)। दर्शन केवल बुद्धि का चमत्कार है। इस प्रकार पाश्चात्य विचार के अनुसार दार्शनिक वह है जो जीव, जगत्, परमात्मा और परलोक का निरपेक्ष विद्यानुरागी हो। वहाँ दर्शन केवल दर्शन के लिए है अर्थात् कोरा बुद्धिविलास है।

किन्तु भारतीय दर्शन का लक्ष्य बहुत ऊँचा है। उसका केन्द्रबिन्दु आत्मा है, अर्थात् अपने आपको सही रूप में पहचानना है। साथ ही वह विश्व के समस्त पदार्थों की वास्तविकता को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। यहाँ दर्शन केवल कल्पनाकुशल कोविदों के मनोविनोद का साधन नहीं, मगर तत्त्व को जानकर हितप्रवृत्ति का

१९ यनाहं नामृता स्यां, किं तेन कुर्याम्? यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।

—बृहदारण्यकोपनिषद्

२० एगो हु धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जए अन्नमिहेह किंचि।

—उत्तराध्य० १४, ४०

साधन है। आत्मोत्कर्ष के लिए व्यर्थ के काल्पनिक आदर्शों के गगन मे उड़ान भरने की अपेक्षा उन आदर्शों को जीवन मे उतारना अधिक उत्तम है।

आत्मोत्थान मे धर्म आचार के रूप मे साधन है तो दर्शन विचार के रूप मे। आचार और विचार के समन्वय से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है। यही कारण है कि वैदिक दर्शन ने ज्ञानयोग और कर्मयोग के रूप मे[21], बौद्ध दर्शन ने विद्या और चारित्र के रूप मे[22] तथा जैनदर्शन ने सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के रूप[23] मे आचार और विचार का समन्वय किया है।

आचारहीन विचार निष्फल है और विचारहीन आचार अन्धकार मे ठोकरे खाने के समान केवल आयासजनक ही होता है। दर्शन जीवन का प्रकाश है तो धर्म गति है। दर्शन जीवन की शक्ति है और धर्म जीवन की अभिव्यक्ति है। दर्शन से विचार की शुद्धि होती है और धर्म से आचार की विशुद्धि होती है।

संस्कृत साहित्य मे अन्ध-पगु न्याय प्रसिद्ध है। अन्धा चल सकता है, देख नही सकता। उसे उन्मार्ग और सन्मार्ग का विवेक नही होता। अतएव वह उन्मार्ग या विपरीत मार्ग पर चल कर अपने लक्ष्य से और अधिक दूर हो सकता है। पगु देख सकता है, पर चल नही सकता। उसका देखना किसी काम नही आता। अतएव दोनो में समन्वय आवश्यक है। इसी प्रकार यह अनिवार्य है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य आचार और विचार का समन्वय करे और शुद्ध विचार की रोशनी मे चले। यही धर्म और दर्शन का समन्वय है।



---

२१. देखिए भगवद्गीता।

२२. अगुत्तरनिकाय, ११–११

२३. आहसु विज्जा चरणं पमोक्ख।

—सूत्रकृतांग, १।१२।११

(ख) स्थानाग, २–६३
(ग) तत्त्वार्थसूत्र, १–१
(घ) आवश्यकनियुंक्ति गा० ९४ और ९९

दो | अध्यात्मवाद : एक अध्ययन

भारतवर्ष सदैव अध्यात्म विद्या की लीलाभूमि रहा है। प्रतापपूर्ण प्रतिभासम्पन्न विज्ञो ने अध्यात्म क्षेत्र मे जिस चिरन्तन सत्य का साक्षात्कार किया, उसकी प्रभास्वर रश्मिमाला से विश्व का प्रत्येक भूभाग आलोकित है। भारतीय इतिहास व साहित्य प्रस्तुत कथन का ज्वलन्त प्रमाण है कि आध्यात्मिक गवेषणा, अन्वेषणा और उसका सम्यक आचरण ही भारत के सत्य शोधी साधको के जीवन का एकमात्र अभिलषित लक्ष्य रहा है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के द्वारा ही भारत ने विश्व का नेतृत्व किया और विश्वगुरु के महत्त्वपूर्ण पद से अपने को समलकृत किया।

भारतीय सस्कृति की समुज्ज्वल विचारधाराएं विवध रूपो व रगो मे व्यक्त हुई हैं, जिनकी गणना करना असम्भव न सही, कठिन अवश्य है। तथापि यह निर्विवाद है कि जैन, बौद्ध और वैदिक ये तीनो धाराएं ही उनमें प्रमुख हैं। इन त्रिविध धाराओ मे ही प्राय अन्य सभी धाराएं अन्तर्हित हो जाती हैं। उनमें अध्यात्म विद्या की गरिमा का जो मधुर गान गाया गया है वह भौतिक भक्ति के युग मे पले पुसे इन्सान को भी विस्मय से विमुग्ध कर देता है। विमुग्ध ही नही, जो मानव भौतिकता की चकाचौंध में प्रतिपल, प्रतिक्षण बहिर्द्रष्टा बनते जा रहे हैं, जिन्हें अन्तदर्शन का अवकाश नही है, आत्ममार्जन की चिन्ता नही है, अन्तरतम की परिशुद्धि और परिष्कृति का उद्देश्य जिनके सामने नही है केवल बहिर्दर्शन ही जिनके जीवन का परम और चरम ध्येय है, उन्हे भी प्रस्तुत सगीत एक बार तो आत्मदर्शन की पवित्र प्रेरणा प्रदान करता ही है।

मै कौन हूँ, ? कहाँ से आया हूँ, ?[१] यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? क्या मेरा पुनर्जन्म होगा ? मेरा स्वरूप क्या है ? क्या मैं देह हूँ ? इन्द्रिय हूँ ? मन हूँ ? या इन सबसे भिन्न कुछ हूँ ? इन सभी प्रश्नों का सही समाधान भारत के मनीषी मूर्धन्य-मुनियों ने प्रदान किये है। भाषा, परिभाषा, प्रतिपादनपद्धति और परिष्कार मे अन्तर होने पर भी सूक्ष्म व समन्वय दृष्टि से अवलोकन करने पर सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे सभी एक ही राह के राही है।

जैन दृष्टि :

भारतीय सस्कृति मे जैन सस्कृति का स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र विचारधारा है, और स्वतन्त्र निरूपण पद्धति है। जैन दर्शन को जिन-दर्शन या आत्म-दर्शन भी कह सकते है। जैनदर्शन में आत्मा के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध मे अत्यन्त सूक्ष्म गम्भीर और व्यापक विचार किया गया है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप है, षट् द्रव्यों मे स्वतन्त्र द्रव्य है।[3] नव पदार्थों मे प्रथम पदार्थ है।[४] सप्त तत्त्व में प्रथम तत्त्व है।[५] पंचास्तिकाय में चतुर्थ अस्ति काय है।[६]

---

१. आचाराग, प्रथम अध्ययन।

२. जीवे णं भंते ! जीवे, जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे।

—भगवती ६।१०

३. धम्मो अधम्मो आगासो, कालो पुग्गल जतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि॥

—उत्तराध्ययन २८

४. नव सब्भावपयत्था पं० त० जीवा अजीवा पुण्ण पावो
आसवो सवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो।

—ठाणाङ्ग ६।८६७

५. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

—तत्त्वार्थ० १।४

६. पंच अत्थिकाया प० त० धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए।
आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।

—ठाणाङ्ग ५।२।५३०

(ख) भगवती २।१०। पृ० ५२३

उपयोग ही उसका मुख्य लक्षण है।[७] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का सग्राहक है। चेतना के बोधरूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। यह दो प्रकार का है—(१) साकार उपयोग (२) और अनाकार उपयोग। साकार उपयोग ज्ञान है और अनाकार उपयोग दर्शन है। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्म का (जाति, गुण, क्रिया आदि का) बोध कराता है वह साकार उपयोग है और जो सामान्य सत्ता का बोध कराता है वह अनाकार उपयोग है। यो आत्मा में अनन्त गुण पर्याय है किन्तु उन सभी में उपयोग ही प्रमुख और असाधारण है। वह स्व पर प्रकाशक होने से अपना तथा दूसरे द्रव्य, गुण, पर्यायों का ज्ञान करा सकता है। सुख-दुःख का अनुभव करना, अस्ति-नास्ति को जानना, यह सब उपयोग का ही कार्य है। उपयोग जड पदार्थों मे नहीं होता क्योंकि उनमें चेतना शक्ति का अभाव है।

आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा है।[८] इसका अर्थ यह नहीं कि वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, इसमे दर्शन भी है, आनन्द भी है,

---

७ उवओगलक्खणए जीवे।

—भगवती १३।४।४८०

(ख) गुणओ उवओगगुणो।

—ठाणाङ्ग ५।३।५३०

(ग) जीवो उवओगलक्खणो।

—उत्तराध्ययन २८।१०

(घ) उवओगलक्खणे जीवे।

—भगवती २।१०

(ङ) उपयोगो लक्षणम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र २।८

(च) जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

—द्रव्य सग्रह नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

८ आया भंते! नाणे अन्नाणे? गोयमा आया सिय नाणे, सिय अन्नाणे, णाणे पुण नियम आया।

—भगवती १६। ३

अनन्तवीर्य भी है, अन्य धर्म भी हैं। वस्तुतः ज्ञान और आत्मा में गुण-गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी (द्रव्य) है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए भगवती सूत्र मे कहा है— आत्मा ज्ञान भी है, और ज्ञान के अतिरिक्त भी है किन्तु ज्ञान नियम से आत्मा ही है। आत्मा साक्षात् ज्ञान है, और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है।[9] जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वही आत्मा है। जो इस तत्त्व को स्वीकार करता है वह आत्मवादी है।[10] ज्ञान और आत्मा के द्वैत को जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता है। आत्मा और ज्ञान मे तादात्म्य है, वे अलग-अलग तत्त्व नहीं है, जैसा कि कणाद आदि स्वीकार करते हैं।

विस्तार की दृष्टि से आत्मा का लक्षण बतलाते हुए भगवान् महावीर ने कहा—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग ये जीव के लक्षण है।[11] अर्थात् आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य (शक्ति) और उपयोगमय है।

आत्मा अरूपी है।[12] शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित है।[13] वह न लम्बा है न छोटा है, न टेढा है न गोल, न चौरस है, न मण्डलाकार है अर्थात् उस की अपनी कोई आकृति नही है। न

---

९. आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत् करोति किम् ?

—आचार्य अमृतचन्द्र

१०. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।
जेण विजाणाति से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए, से आयावादी।

—आचारांग १

११. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एवं जीवस्स लक्खणं॥

—उत्तराध्ययन २८।११

१२. अरूवी सत्ता·······।

—आचारांग ६।१।३३३

(ख) चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया पं० तं० जीवत्थिकाए....।

—स्थानाङ्ग ४।१।३१४

१३. से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे,

—आचारांग ६।१।३३३

हल्का है, न भारी है। क्योंकि लघुता गुरुता जड के धर्म हैं। वह न स्त्री है, न पुरुष है,[14] क्योंकि ये शरीराश्रित उपाधियां हैं। वह अनादि है, अनिधन है, अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव और नित्य है।[15] वह पहले भी था, अब भी है और भविष्य में भी रहेगा,[16] तीनों कालों में भी वह जीव रूप में ही विद्यमान रहता है। जीव कभी अजीव नहीं होता[17] लोक में जीव और अजीव शाश्वत है।[18] आत्मा

(ख) जीवत्थिकाए ण अवन्ने अगंधे, अरसे, अफासे, अरूवी भावतो अवन्ने, अगंधे, अरसे, अफासे, अरूवी,

—स्थानाङ्ग ५।१।५३०

(ग) जीवत्थिकाए ण भंते ! कतिवन्ने, कतिगंधे, कतिरसे, कतिफासे ? गोयमा ! अवण्णे जाव अरूवी।

—भगवती २०।१०

१४ से ण दीहे ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगन्धे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रुहे, ण संगे, ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा, परिण्णे सण्णे।

—आचारांग ३।१।३३१

१५ जीवो अणाइअनिधनो अविणासी अक्खओ धुओ णिच्च।

—भगवती

१६ कालओ ण कयाइ णासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्साइत्ति भुवि भवइ य भविस्साइ य धुव णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।

ठाणाङ्ग ५।३।५३०

(ख) भगवती १।४।४१

१७ ण एवं भूय वा भव्य वा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्सन्ति अजीवा वा जीवा भविस्सन्ति।

—ठाणाङ्ग १०।१।६३१

१८ के सासया लोए ? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

—ठाणाङ्ग २।४।१५१

ज्ञान मय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। वह अरूप है, एतदर्थ नेत्रों से देखा नही जाता, किन्तु चेतना गुणों से उसका अस्तित्व जाना जा सकता है। वह वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[१९] और तर्क द्वारा गम्य नही है।[२०]

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने अनेकान्त की भाषा मे आत्मा को जहाँ नित्य बताया है, वहाँ अनित्य भी बताया है।

एक समय की बात है। भगवान् महावीर के चरणारविन्दों में गौतम स्वामी आए। वन्दना करके विनम्र भाव से बोले—भगवन् ! जीव नित्य है या अनित्य है ?

भगवान् बोले—गौतम ! जीव नित्य भी है और अनित्य भी।

गौतम—भगवन् ! यह किस हेतु से कहा गया कि जीव नित्य भी है और अनित्य भी !

भगवान्—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।[२१]

अभिप्राय यह है कि जीवत्व की दृष्टि से जीव शाश्वत है। अपने मूल द्रव्य के रूप मे उसकी सत्ता त्रैकालिक है। अतीतकाल मे जीव था, वर्तमान मे है और भविष्य मे भी रहेगा, क्योंकि सत् पदार्थ कभी असत् नही होता। इस प्रकार द्रव्यतः नित्य होने पर भी जीव पर्यायतः अनित्य है, क्योंकि पर्याय की दृष्टि से वह सदा परिवर्तनशील है। जीव विविध गतियों मे, विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होता रहता है।

जैसे सोने के कुण्डल, मुकुट, हार आदि अनेक आभूषण बनने पर भी, नाम और रूप मे अन्तर पड़ जाने पर भी सोना-सोना ही रहता

---

१९. अपयस्स पयं णत्थि।

—आचारांग ६।१।३३२

२०. सव्वे सरा णियट्टन्ति, तक्का जत्थ ण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिता....।

—आचारांग ६।१।३३०

२१. भगवती, शतक ७, उद्दे० २

है, वैसे ही विविध योनियों मे भ्रमण करते हुए जीव के पर्याय बदलते हैं—रूप और नाम बदलते है—मगर जीव द्रव्य वही रहता है।

जीवन मे सुख और दुःख किस कारण से पैदा होते हैं? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—आत्मा ही अपने सुख और दुःख का कर्ता है, और भोक्ता है।[२२] आत्मा ही अपने कृत कर्मों के अनुसार विविध गतियों मे परिभ्रमण करता है[२३] और अपने ही पुरुषार्थ से कर्मपरम्परा का उच्छेद कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनता है।[२४]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आत्मा का कोई आकार नही है, किन्तु सकर्मक आत्मा किसी न किसी शरीर के साथ ही रहती है, अतएव प्राप्त शरीर का आकार ही उसका आकार हो जाता है। इस कारण जैन दर्शन में आत्मा को कायपरिमित माना गया है। आत्मा स्वभावतः असंख्यात प्रदेशी है, और उसके प्रदेश संकोच विकास-शील होते हैं। अतएव वह कर्मोदय के अनुसार जो शरीर उसे प्राप्त होता है, उसी मे उसके समस्त प्रदेशों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार न आत्मा शरीर के एक भाग मे रहती है, न शरीर के बाहर होती है और न सर्वव्यापी है। अलबत्ता केवलीसमुद्घात के समय उसके प्रदेश समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं, इस अपेक्षा से उसे लोकव्यापक कहा जा सकता है।[२५] मगर एकसमयभावी उस अवस्था की विवक्षा नही करके आत्मा शरीरप्रमाण ही मानी जाती है।

---

२२ उत्तरा० २०।३७

२३ जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं॥

—सूत्रकृताङ्ग १।२।१।४

२४ जह य परिहीण-कम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति।

—औपपातिक

२५ द्रव्यसंग्रह, ब्रह्मदेवकृत टीका १०

जैसे दीपक को एक घड़े के नीचे रख दिया जाय तो उसका प्रकाश घड़े मे समा जाता है। उसी दीपक को यदि किसी विशाल कमरे में रख दें तो वही प्रकाश फैलकर उस कमरे को व्याप्त कर लेता है और यदि खुले आकाश में रख दे तो और भी अधिक क्षेत्र को अवगाहन कर लेता है, उसी तरह आत्मप्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है। यह अनुभवसिद्ध है कि शरीर मे जहाँ कही चोट लगती है वहाँ सर्वत्र दु:ख अनुभव होता है। शरीर से बाहर किसी भी वस्तु को काटने पर दु:ख अनुभव नही होता। यदि शरीर से बाहर आत्मा होता तो अवश्य ही दुःख होता; अतः आत्मा सर्वव्यापी न होकर देहप्रमाण ही है।[२६]

गौतम ने जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन्! जीव संख्यात है, असंख्यात है या अनन्त है? भगवान् ने समाधान किया—गौतम? जीव अनन्त है।[२७]

जीवो की संख्या कभी न्यूनाधिक होती है या अवस्थित रहती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! जीव कभी कम और कभी अधिक नही होते किन्तु अवस्थित रहते है।[२८] अर्थात् जीव संख्या की दृष्टि से सदा अनन्त रहते है।[२९] अनन्त होने

२६: सदेहपरिणामो।

—द्रव्यसंग्रह

२७. जीवदव्वा णं भन्ते! कि सखेज्जा, असंखेज्जा, अणता? गोयमा! नो सखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

—भगवती २५।२।७१६

(ख) के अणंता लोए? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

—ठाणाङ्ग २।४।१५१

२८. भन्ते त्ति भगवं गोयमे जाव एवं वयासी—जीवाणं भन्ते! कि वड्ढन्ति हायन्ति, अवट्ठिया? गोयमा! जीवा णो वड्ढति नो हायन्ति अवट्ठिया। जीवाणं भन्ते केवइयं कालं अवट्ठिया (वि)? सव्वद्धं।

—भगवती ५।८।२२१

२९. दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं।

—भगवती २।१०।११७

पर भी सभी आत्माएँ चेतन और असख्यात प्रदेशी हैं, अत एक हैं।[30] क्षेत्र की दृष्टि से जीव लोकपरिमित है। जहाँ लोक है वहाँ जीव है। जहा तक जीव है वहाँ तक लोक ह।[31]

आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, उसे अग्नि जला नहीं सकती, शस्त्र काट नहीं सकता।[32] जीव कदापि विलय को प्राप्त नहीं होता। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि अस्तित्व अस्तित्व मे परिणमन करता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणमन करता है।[33] द्रव्य मे अस्तित्व वान जीव भविष्य मे नास्तित्व में परिणमन नहीं कर सकता।

(ख) दव्वओ ण जीवत्थिकाए अणताइ दव्वाइ।

—ठाणाङ्ग ५।३।५३०

३० एगे आया।

—ठाणाङ्ग १।१

३१ जाव ताव लोगे ताव ताव जीवा, जाव ताव जीवा ताव ताव लाए।

—ठाणाङ्ग १०।६३१

३२ स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कचण सव्वलोए।

—आचाराग १।३।३

(ख) अह भत! कुम्भ कुम्मावलिया गोह गोहावलिया गाणे गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसा वलिया, एएसि ण दुहा वा तिहा वा सखेज्जहा वा छिन्नाण जे अन्तरा तेवि ण तेहि जीवपएसेहि फुडा? हता फुडा। पुरिसे ण भत! (ज अतर) ते अतर हत्थेण वा पाएण वा अगुलिया वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंचण वा आमुसमाणे वा समुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेण सत्यजाएण आच्छिन्दमाणे वा विच्छिन्दमाणे वा अगणिकाएण वा समोडहमाणे तेसि जीवपएसाण किंचि आबाह वा विबाह वा उप्पायइ छविच्छेद वा करेइ? णो तिणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं सकमइ।"

—भगवती ८।३।३२४

३३ से णूण भते! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ? हन्ता गोयमा! जाव परिणमइ।

—भगवती १।३।३२

जैसे दूध और पानी वहिर्दृष्टि से एक प्रतीत होते हैं वैसे ही ससारी दशा मे जीव और शरीर एक लगते हैं, पर वे पृथक्-पृथक् है।

वादिदेव सूरि ने संक्षेप में सासारिक आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया है। "आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है। वह चैतन्यस्वरूप है, परिणामी है, कर्मो का कर्त्ता है। सुख-दु ख का साक्षात् भोक्ता है, स्वदेहपरिमाण है, प्रत्येक शरीर मे भिन्न है, पौद्गलिक कर्मो से युक्त है।"[३४] प्रस्तुत परिभाषा मे जैन दर्शन-सम्मत आत्मा का पूर्णरूप आ गया है।

आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि के लिए श्री जिनभद्र गणी ने विशेषावश्यक भाष्य मे विस्तार से अन्य दार्शनिको के तर्कों का खण्डन कर आत्मा की ससिद्धि की है। विस्तार भय से वह सारी चर्चा यहाँ नही की जा रही है। पाठको को मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।[३५]

जैन आगम साहित्य मे भी यथाप्रसंग नास्तिक दर्शन का उल्लेख कर उसका निराकरण किया गया है। सूत्रकृताङ्ग मे अन्य मतो का निर्देश करते हुए नास्तिकों के सम्बन्ध मे कहा है—"कुछ लोग कहते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अकाश—ये पाँच महाभूत हैं। इन पाँच महाभूतो के योग से आत्मा उत्पन्न होता है और इनके विनाश व वियोग से आत्मा भी नष्ट हो जाता है।[३६]

---

३४. प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा। चैतन्यस्वरूप. परिणामी कर्ता साक्षाद् भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवाश्चायम्।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।५५–५६

३५. विशेषावश्यकभाष्य।

३६. सन्ति पच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेउ वा, वाउ आगास पंचमा॥
एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेण, विणासो होइ देहिणो॥

—सूत्रकृताङ्ग अ० १। गाथा ७–८

आचार्य शीलाङ्क ने प्रस्तुत गाथाओ की वृत्ति मे लिखा है—भूतसमुदाय काठिन्य आदि धर्मो वाले हैं। उनका गुण चैतन्य नही है। पृथक्-पृथक् गुण वाले पदार्थो के समुदाय से किसी अपूर्व गुण वाले पदार्थ की निष्पत्ति नही होती। जैसे रूक्ष वालुकणो के समुदाय से स्निग्ध तैल की उत्पत्ति नही होती, वैसे ही चैतन्य गुण वाली आत्मा की जडत्व धर्म वाले भूतो से उत्पत्ति होना सम्भव नही।[37] भिन्न गुण वाले पाँच भूतो के सयोग से चेतनागुण की निष्पत्ति नही होती। यह प्रत्यक्ष है कि पाचो इन्द्रियाँ अपने अपने विषय का ही परिज्ञान करती है। एक इन्द्रिय द्वारा जाने हुए विषय को दूसरी इन्द्रिय नही जानती, किन्तु पाँचो इन्द्रियो के जाने हुए विषय को समष्टि रूप मे अनुभूति कराने वाला द्रव्य कोई भिन्न ही होना चाहिए और उसे ही आत्मा कहते है।[38]

इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जैन दर्शन के मौलिक और स्पष्ट विचार है।

बौद्ध दृष्टि

महात्मा बुद्ध ने सासारिक विषयासक्ति से दूर रहकर आत्म-गवेषणा और आत्म शान्ति का उपदेश दिया है। उन्होने कहा—आत्मदीप होकर विहार करो, आत्मशरण, अनन्यशरण ही रहो—"अत्तदीपा विहरथ, अत्तसरणा अनञ्ञसरणा"।[39] उनकी दृष्टि से जा

---

३७ भूतसमुदाय स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते न तस्य चेतनाख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्म, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्। यो योऽन्यगुणाना समुदायस्तत्राऽपूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति। यथा सिकतासमुदाये स्निग्ध गुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भादयो विभावा इति, दृश्यते च कायचैतन्य तदात्मगुणो भविष्यति न भूतानामिति।

—सूत्रकृताङ्ग वृत्ति

३८ पचण्ह सजोगे अण्णगुणाण न चेयणाई गुणो होइ।
पचिन्दिय ठाणाण ण अण्णमुणिय मुणई अण्णो॥

—सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्कवृत्ति

३९ दीघनिकाय ३।३।१

निर्मोही है वही अक्षय आध्यात्मिक आनन्द का अधिकारी है। और वह सुख बिना काम-सुख त्यागे प्राप्त नही हो सकता।[४०]

कामसुख हीन और अनार्य है। जब तक उसका परित्याग नही किया जाता, उस पर विजय प्राप्त नही की जाती, तब तक आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव नही होता।[४१]

आध्यात्मिक सुखानुभूति होने के पश्चात् पुनः प्राणी किसी सांसारिक सुखतृष्णा मे नही पड़ सकता। यह आध्यामिक सुख सम्राटो के और देवताओ के सुख से बढ़कर है।[४२]

आत्मशरण की प्रबल प्रेरणा देने पर भी बौद्ध दर्शन आत्मा के सम्बन्ध मे एक निराली दृष्टि रखता है। वह किसी दृष्टि से आत्मवादी है और किसी दृष्टि से अनात्मवादी भी है। एक ओर पुण्य, पाप, पुनर्जन्म, कर्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष को स्वीकारने के कारण आत्मवादी है तो दूसरी ओर आत्मा के अस्तित्व को सत्य नही किन्तु काल्पनिक संज्ञा मानने के कारण अनात्मवादी है।

महात्मा बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया है। इसका अर्थ आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध नही है, किन्तु उपनिषदो मे जो

---

४०. तो क्या मानते हो मागन्दिय ! क्या तुमने कभी देखा या सुना है किसी को विषय भोगो से लिप्त विषयो को बिना छोडे, काम दाह बिना त्यागे, काम तृष्णा बिना छोडे, पिपासारहित होकर अपने अन्दर शान्ति अनुभव करते हुए ? नही, भो गौतम ! साधु मागन्दिय ! मैंने भी नही देखा न सुना।

—मज्झिम नि० (मागन्दिय सुत्तन्त,) २।३।५

४१. मज्झिम निकाय १।४।८ (महातण्हासखय-सुत्तन्त)।

४२. यथा हि राजा रज्जसुखं देवता दिब्बं सुखं अनुभवन्ति एवं अरिया अरियं लोकुत्तरं सुख अनुभविस्सामीति इच्छितिच्छ तक्खणे फल-समापत्ति समापज्जन्ति।

—विसुद्धिमग्ग ३।८

शाश्वत, अद्वैत आत्मा का निरूपण किया गया है और उसे ससार का एक मात्र मौलिक तत्त्व माना है, उसका खण्डन है। यद्यपि चार्वाक की तरह बुद्ध भी अनात्मवादी है किन्तु बुद्ध पुद्गल, आत्मा, जीव चित्त आदि को एक स्वतन्त्र वस्तु मानते हैं जबकि चार्वाकदर्शन चार या पाच भूतो से समुत्पन्न होने वाली परतन्त्र वस्तु मानते हैं। महात्मा बुद्ध भी जीव, पुद्गल, अथवा चित्त को अनेक कारणो से समुत्पन्न मानते हैं और इस दृष्टि से वह परतन्त्र भी है, किन्तु इस उत्पत्ति में जो मूल कारण है उनमें विज्ञान और विज्ञानेतर दोनो प्रकार के कारण रहते है, जबकि—चार्वाक दर्शन में चैतन्य की उत्पत्ति में चैतन्य से अतिरिक्त भूत ही कारण है, चैतन्य नही। साराश यह है कि भूतो के सदृश विज्ञान भी एक मूल तत्त्व है, जो बुद्ध की दृष्टि से जन्य और अनित्य है किन्तु चार्वाक भूतो के अतिरिक्त विज्ञान को मूल तत्त्व नही मानते। चैतन्य विज्ञान की सतति धारा को बुद्ध अनादि मानते हैं किन्तु चार्वाक नही।[४३]

महात्मा बुद्ध का मन्तव्य था कि जन्म, जरा, मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के नही होते, किन्तु वे सभी विशिष्ट कारणो से समुत्पन्न होते हैं। अर्थात् जन्म, जरा, मरण इन सबका अस्तित्व तो है, किन्तु उसका स्थायी आधार वे स्वीकार नही करत।[४४] जहाँ उन्हे चार्वाक का देहात्मवाद स्वीकार नही है वहाँ उपनिषद् का शाश्वत आत्म स्वरूप भी अमान्य है। उनके मन्तव्यानुसार आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न भी नही है और न शरीर से अभिन्न ही है। चार्वाक दर्शन एकान्त भौतिकवादी है, उपनिषदो की विचार धारा एकान्त कूटस्थ आत्मवादी है, किन्तु बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग है। जिसे बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु उत्पन्न हुई—कहा है।

४३ आत्म मीमासा— प० दलसुख मालवणिया पृ० २८ का साराश।

४४ सयुत्त निकाय १२–२६।
(ख) अगुत्तर निकाय ३,
(ग) दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त
(घ) सयुत्तनिकाय १२।१७।२४
(ङ) विसुद्धिमग्ग १७।१६६–१७४

जब कभी भी महात्मा बुद्ध से आत्मा के सम्बन्ध में किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया तब उसका उत्तर न देकर वे मौन रहे है। मौन रहने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा—यदि मै कहूँ कि आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते है और यदि कहूँ कि आत्मा नही है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते है, एतदर्थ उन दोनों के निषेध के लिए मै मौन रहता हूँ।[४५] एक स्थान पर नागार्जुन लिखते है—"बुद्ध ने यह भी कहा है कि आत्मा है और यह भी कहा है कि आत्मा नही है।[४६] बुद्ध ने आत्मा अनात्मा किसी का भी उपदेश नही दिया।

आत्मा क्या है ? कहाँ से आया है और कहाँ जायेगा ? इन प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने स्पष्टता से प्रदान किये है। उनका उत्तर देते समय बुद्ध ने उपेक्षा प्रदर्शित की है और उन्हें अव्याकृत कहकर छोड़ दिया है।[४७] वे मुख्यतः दुःख और दुःख निरोध, इन दो तत्त्वों पर प्रकाश डालते है। उन्होने अपने प्रिय शिष्य को कहा—"तीर से व्यथित व्यक्ति के घाव को ठीक करने की बात विचारनी चाहिए। तीर कहाँ से आया है ? किसने मारा है ? इसे किसने बनाया है ? मारने वाले का रग रूप कैसा है ? आदि आदि प्रश्न करना निरर्थक है।"

बौद्ध दर्शन मे आत्म तत्त्व के लिए पृथक्-पृथक् स्थलों पर कहीं मुख्य रूप से और कही गौण रूप से अनेक शब्द व्यवहृत हुए है। जैसे कि पुग्गल, पुरिस, सत्त, जीव, चित्त, मन, विज्ञान, नाम रूप आदि।[४८]

---

४५. अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे; नाश्रीयेत विचक्षणः॥
—माध्यमिक कारिका १८।१०

४६. आत्मेत्यपि प्रज्ञापित-मनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा, कश्चिदित्यपि देशितम्॥
—माध्यमिक कारिका १६।६

४७. (क) मिलिन्द प्रश्न २।२५-३३ पृ० ४१-५२
(ख) न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना पृ० ६
(ग) मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्य सुत्त ६३

४८. सब्बे सत्ता अवेरा⋯सब्बे पाणा⋯सब्बे भूता⋯सब्बे पुग्गला⋯।
—पटसंभिदा २।१३०

लौकिक दृष्टि से आत्मा की सत्ता है, जो विज्ञान वेदना, सज्ञा, सस्कार और रूप—इन पाच स्कन्धों का सघातमात्र है किन्तु पारमार्थिक रूप से आत्मा नही है।[४९]

"मिलिन्द प्रश्न" में भदत नागसेन और राजा मिलिन्द का सवाद है। राजा मिलिन्द के प्रश्न के उत्तर में भदन्त नागसेन ने बताया कि पुद्गल का अस्तित्व केश, दाँत आदि शरीर के अवयवों तथा रूप, वेदना, सज्ञा सस्कार, विज्ञान इन सबकी अपेक्षा से है, किन्तु पारमार्थिक तत्त्व नही है।[५०]

सक्षेप मे यदि कहना चाहे तो बौद्धदर्शन आत्मा को स्थायी नही, किन्तु चेतना का प्रवाहमात्र मानता है। दीपशिखा के रूपक से प्रस्तुत कथन का प्रतिपादन किया गया है। जैसे दीपक की ज्योति जगमगा रही है। किन्तु जो लौ पूर्व क्षण मे है, वह द्वितीय क्षण मे नही। तेल प्रवाह रूप मे जल रहा है, लौ उसके जलने का परिणाम है, प्रतिपल, प्रतिक्षण वह नई उत्पन्न हो रही है किन्तु उसका बाह्य रूप उसी प्रकार स्थितिशील पदार्थ के रूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है। बौद्धदर्शन के अनुसार आत्मा के सम्बन्ध मे भी ठीक यही स्थिति चरितार्थ होती है। स्पष्ट है कि बौद्ध-दर्शन अनात्मवादी होते हुए भी आत्मवादी है।

वैदिक दृष्टि

उपनिषद् आदि परवर्ती साहित्य मे जिस प्रकार आत्म मीमासा की गई है वैसी मीमासा वेदो मे नही है।

कठोपनिषद् मे नचिकेता का एक मधुर प्रसग है। बालक नचिकेता के पिता ऋषि वाजश्रवस् ने भीष्म प्रतिज्ञा ग्रहण की कि "मै सर्वस्व दान दूँगा।" प्रतिज्ञानुसार सब कुछ दान दे दिया। बालक नचिकेता ने विचार किया—पिता ने अन्य वस्तुएँ तो दान दे दी है पर अभी तक मुझे दान में क्यो नही दिया ? उसने पिता से पूछा—आप

(ख) विसुद्धिमग्ग, ८।१६

४९ मिलिन्द प्रश्न

५० मिलिन्द प्रश्न २।४। सू० २६८।

मुझे किसको दान दे रहे हैं ? पिता मौन रहे। उसने पुनः वही प्रश्न दोहराया, फिर भी पिता का मौन भंग नही हुआ। तृतीय वार कहने पर पिता को क्रोध आ गया और उसने झुँझला कर कहा—जा तुझे यमराज को दिया। वालक नचिकेता यम के घर पहुँचा। यमराज घर पर नही थे। वह भूखा और प्यासा तीन दिन तक यमराज के द्वार पर वैठकर उनकी प्रतीक्षा करता रहा। यमराज आये। वालक की भद्रता पर वे मुग्ध हो गये। तीन वर माँगने के लिए कहा। नचिकेता ने तीसरा वर माँगा—मृत्यु के पश्चात् कुछ कहते है मानव की आत्मा का अस्तित्व है, कुछ कहते हैं नही है, सत्य तथ्य क्या है; यह आप मुझे वताये—यही मेरा तृतीय वर है।[५१]

यमराज ने अन्य वर माँगने की प्रेरणा दी, पर नचिकेता अपने कथन से तनिक भी विचलित नही हुआ। उसने कहा—मुझे वही विधि वताइये, जिससे अमरता प्राप्त हो। यमराज ने कहा—तू इस आत्म-विद्या के लिए आग्रह न कर, इसका ज्ञान होना साधारण वात नही है। देवता भी इस विषय मे सन्देहशील रहे है।[५२] पर नचिकेता की तीव्र जिज्ञासा से यमराज ने प्रसन्न होकर आत्मसिद्धि का सूक्ष्म रहस्य उसे वताया। आत्म-विद्या व योगविधि को पाकर नचिकेता को ब्रह्मानन्द अनुभव हुआ। उसका राग-द्वेष नष्ट हो गया। इसी प्रकार जो आत्म-तत्त्व को पाकर आचरण करेंगे वे भी अमरता को प्राप्त करेंगे।[५३]

---

५१. येय प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये,
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

—कठोपनिषत् १–२०

५२. देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा, नहि सुविज्ञेय अणुरेप धर्मः।

—कठोपनिषत् १।२१

५३. मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा,
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।

चरक के अनुसार अग्निवेश के प्रश्न के उत्तर में पुनर्वसु ने आत्म तत्त्व का निरूपण किया है।[५४]

छान्दोग्य उपनिषद् में महर्षि नारद और सनत्कुमार का संवाद है। सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने कहा—वेद, पुराण, इतिहास आदि सभी विद्याओं का अध्ययन करने पर भी आत्मस्वरूप न पहचानने से मैं शोक-ग्रस्त हूँ, अतः आत्मज्ञान प्रदान कीजिये, और चिन्ताओं से मुक्त कीजिये।[५५]

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषि से मैत्रेयी ने भी आत्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा व्यक्त की।[५६]

उपनिषद् के ऋषियों ने कहा है—आत्मा ही दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय है और ध्यान किये जाने योग्य है।[५७] मनुस्मृति के रचयिता आचार्य मनु कहते हैं—'सब ज्ञानों में आत्म ज्ञान ही श्रेष्ठ है। सभी विद्याओं में वही परा विद्या है, जिससे मानव को अमृत (मोक्ष) प्राप्त होता है।[५८]

ब्रह्मप्राप्तो विरजाऽभूद विमृत्यु-
रन्योऽप्येव यो विदध्यात्ममेव ॥

कठोपनिषद् ६।१८

५४ इत्यग्निवेशस्य वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः ।
सर्वं यथावत् प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसु ॥

— चरक संहिता, शरीर स्थान, अ० १, श्लो० १५

५५ छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक ७ खण्ड १

५६ येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम् ?
तदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि ॥

—बृहदारण्योपनिषद्

५७ आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

—बृहदारण्योपनिषद् २।४।५

५८ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥

—मनुस्मृति अ० १२

आत्मा शरीर से विलक्षण है।[५९] वह वाणी द्वारा अगम्य है।[६०] न वह स्थूल है, न ह्रस्व है, न विराट् है, न अणु है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न अन्धकार है, न हवा है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गंध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमे न अन्तर है, न वाहर है।[६१]

उपनिषदो में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएँ मिलती है।

छान्दोग्योपनिषद् मे बताया है—"यह मेरी आत्मा अन्तर्हृदय मे रहती है। यह चावल से, जौ से, सरसो से, श्यामाक (सांवा) नामक धान या उसके चावल से भी लघु है।"[६२]

वृहदारण्यक में कहा है—"यह पुरुष रूपी आत्मा मनोमय भास्वान् तथा सत्य रूपी है और उस अन्तर्हृदय मे ऐसी रहती है जैसे चावल या जौ का दाना हो।"[६३]

कठोपनिषद् मे कहा है—"आत्मा अंगूठे जितनी वड़ी है। अंगूठे जितना वह पुरुष आत्मा के मध्य मे रहता है।"[६४]

---

५९. न हन्यते हन्यमाने शरीरे....

—कठोपनिषत् १–२।१५।१८

६०. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।

—तैत्तिरीय उपनिषद् २।४

६१. अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाश-मसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्र-मनन्तरमवाह्यम्....।

—वृहदारण्योपनिषद् ३।८।८

६२. एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा
सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा॥

—छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।३

६३. मनोमयोऽयं पुरुषो भा सत्यस्तेस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहि र्वा यवो वा।

— वृहदारण्यक उप० ५।६।१

६४. अगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

—कठोपनिषत् २।४।१२

कौषीतकी उपनिषद् में कहा है—यह आत्मा शरीर व्यापी है।[६५]

तैत्तिरीय उपनिषद् ने प्रतिपादित किया है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—ये सभी आत्माएँ शरीर प्रमाण है।[६६]

मुण्डकोपनिषद् आदि में आत्मा को व्यापक माना गया है।[६७] "हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है।"[६८]

गीता के अनुसार—आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता और हवा सुखा नहीं सकती है[६९] जैसे मानव जीर्ण शीर्ण वस्त्र को उतारकर नवीन वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही यह आत्मा भी जीर्ण शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर को धारण करता है।[७०]

---

६५ एष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः।

—कौषीतकी उपनिषद् ३५।४।२०

६६ तैत्तिरीय उपनिषद् १।२

६७ सर्वगतम्।

—मुण्डकोपनिषद् १।१।६

(ख) वैशेषिक दर्शन ७।१।२२

(ग) न्यायमंजरी पृ० ४६८

(घ) प्रकरण प० पृ० १५८

(ङ) ईशावास्यमिदं सर्वं, यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

—ईशावास्य उप०

६८ एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या, ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।

—छान्दोग्य उप० ३।१४।३

६९ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

गीता, अध्याय २ । २३

७० वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

वैदिक संस्कृति में ही नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और योग इन दर्शनों का समावेश होता है। ये सभी दर्शन आत्मा को स्वीकार करते है और आत्मा, मोक्ष आदि की स्वतन्त्र परिभाषाएँ प्रस्तुत करते है।

नैयायिक व वैशेपिक दर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा एकान्त नित्य और सर्वव्यापी है। इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख-दुःख आदि के रूप मे जो परिवर्तन परिलक्षित होता है, वह आत्मा के गुणो मे है, स्वयं आत्मा मे नही। आत्मा के गुण आत्मा से भिन्न है, इनसे हम आत्मा का अस्तित्व जानते है।

सांख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। उसके मतानुसार आत्मा सदा-सर्वदा एकरूप रहता है। उसमे परिवर्तन नही होता। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नही, प्रत्युत प्रकृति के है।[७१] सुख-दुःख और ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नही।[७२] आत्मा तो स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी नित्य चित्स्वरूप और निष्क्रिय है।[७३] सांख्य दृष्टि से आत्मा कर्ता नही, किन्तु फल का भोक्ता है।[७४] कर्तृत्व प्रकृति मे है।[७५]

मीमांसक दर्शन के अनुसार आत्मा एक है, किन्तु देहादि की

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥

—गीता २।२२

७१. साख्यकारिका ६२

७२. साख्यकारिका ११

७३. अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कपिलदर्शने ॥

—षड्दर्शनसमुच्चय

७४. साख्यकारिका १७

७५. प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहकारविमूढात्मा, कर्ताऽहमिति मन्यते।

—गीता ३।२७

विविधता के कारण वह अनेक प्रतीत होता है।[७६] मीमासक कुमारिल ने आत्मा को नित्यानित्य माना है।[७७]

इस प्रकार हम देखते है, वैदिक दार्शनिको ने भी आत्मा के सम्बन्ध मे गहन चिन्तन किया है, किन्तु जैन-दर्शन जितना गभीर चिन्तन वे नही कर पाये हैं। अनेकान्त दृष्टि से जैन दर्शन ने आत्मा का सर्वाङ्ग विवेचन किया है। वैसा अन्यत्र दुलभ है।

उपर्युक्त पक्तियो में जैन, बौद्ध, और वैदिक दशन मान्य आत्मा की एक हल्कीसी झांकी प्रस्तुत की गई है। आधुनिक वैज्ञानिक भी आत्मा के मौलिक अस्तित्व को स्वीकार करने लगे हैं। प्रोफेसर अलवर्ट आईस्टीन ने, जो पाश्चात्य देशो में ससार के प्रतिभासम्पन्न विद्वान माने गये हैं, लिखा है—'मैं जानता हूँ कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।" इनके अतिरिक्त अन्य अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिको के विचार भी मननीय है, पर स्थानाभाव के कारण उन्हे यहाँ उद्धृत करना सम्भव नही है।



७६ एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित ।

७७ तत्त्वसग्रह का० २२३–७।

तीन | कर्मवाद-पर्यवेक्षण

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है, क्रीडाभूमि है। यहाँ की पुण्य-भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की विचारधारा बहती चली आ रही है। न्याय, साख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनो ने यहाँ जन्म ग्रहण किया, वे खूब फले और फूले। उनकी विचारधाराएँ हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँची, समुद्र से भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत है।

भारतीय दर्शन जीवन-दर्शन है। केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन मे विहरण करने की अपेक्षा यहाँ के मनीषी दार्शनिको ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन, मनन, विमर्श करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वो पर गहराई से चिन्तन, मनन व विवेचन किया गया है। उन्होने अपनी तपश्चर्या एव सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे तत्त्व का जो विश्लेषण किया है वह भारतीय सभ्यता व धर्म का मेरुदण्ड है। इस विराट् विश्व मे भारत के मुख को उज्ज्वल-समुज्ज्वल रखने मे, तथा मस्तिष्क को उन्नत रखने में ब्रह्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पदा सर्वथा व सर्वदा कारण रही है। मानसिक पराधीनता के पङ्क में निमग्न आधुनिक भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य के समक्ष इस अनुपम विचार-राशि की भले ही अवहेलना करे किन्तु उन्हे यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत अतिप्राचीन काल से गौरवशाली देश रहा है तो अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण ही। वस्तुतः तत्त्व-ज्ञान से ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की प्रतिष्ठा है।

दार्शनिक वादो की दुनिया मे कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कर्मवाद के मर्म को समझे बिना भारतीय दर्शन विशेषत आत्मवाद का यथार्थ परिज्ञान नही हो सकता।

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार "कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशो के मनीषियो मे भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कही भी नही मिलता।"[1]

सुप्रसिद्ध प्राच्य विद्याविशारद कीथ ने सन् १६०६ की रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका मे एक बहुत ही विचार पूर्ण लेख लिखा था। उसमे वे लिखते हैं—"भारतीयो के कर्म बन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। समार की समस्त जातियो से उन्हे यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह यह उक्त सिद्धान्त को जाने बिना अग्रसर नही हो सकता।"[2]

कर्म शब्द के पर्यायवाची

आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे विभिन्न दार्शनिको की विभिन्न धारणाएँ होने से कर्म के स्वरूप विवेचन मे भी विभिन्नता होना स्वाभाविक है। तथापि यह स्पष्ट है—कि सभी आस्तिक दर्शनो ने पुनर्जन्म की समिद्धि के लिए किसी न किसी रूप मे कर्म सिद्धान्त को स्वीकार किया है। सभी दर्शनो के शब्दो मे अन्तर होने पर भी उसके आधार भूत भाव मे प्राय समानता है।

जैन दार्शनिको ने जिसे कर्म कहा है[3] उसे वेदान्त दर्शन ने अविद्या,

---

१ अशोक के फूल भारतवर्ष की सास्कृतिक समस्या पृ० ६७

२ अशोक के फूल, पृ० ६७

३ उत्तराध्ययन अ० ३३।१
(ख) सूत्रकृताङ्ग १।२।१।४
(ग) आचाराग १।२।१।८

प्रकृति तथा माया कहा है।[४] बौद्ध दर्शन ने उसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है।[५] सांख्य व योग दर्शन उसे आशय और क्लेश कहते है।[६] न्याय और वैशेषिक दर्शन ने उसे धर्माधर्म, संस्कार और अदृष्ट कहा है।[७] मीमांसकों ने उसे अपूर्व कहा है।[८] ईसा मोहम्मद और मूसा ने उसे शैतान कहा है।[९] कर्म शब्द के ही ये पर्यायवाची शब्द है, जिन्हे दार्शनिको ने अपने-अपने ग्रन्थो में उट्टङ्कित किया है।

कर्म का स्वरूप :

कर्म का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न विचारको ने विभिन्न दृष्टि से दिया है।

(घ) दशाश्रुतस्कन्ध, ६
(ङ) कर्मग्रन्थ प्रथम गा० १

४ ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।१।१४

५. अभिधर्म कोष, चतुर्थ परिच्छेद।

६. योगदर्शन भाष्य १–५। २–३।२–१२।२–१३
(ख) योगदर्शन तत्त्व वैशारदी।
(ग) योगदर्शन भास्वती टीका।
(घ) सांख्यकारिका।
(ङ) सांख्य तत्त्व कौमुदी।

७. न्याय भाष्य १।१।२
(ख) न्यायसूत्र ४।१।३–६
(ग) न्यायसूत्र १।१।१७
(घ) न्याय मंजरी पृ० ४७१।५००
(ङ) एवं च क्षणभंगित्वात्, संस्कारद्वारिकः स्थितः।
स कर्मजन्यसंस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते ॥
—न्यायमंजरी पृ० ४७२

८. मीमांसा-सूत्र—शाबर भाष्य २।१।५
(ख) तन्त्रवार्तिक २।१।५
(ग) शास्त्रदीपिका पृ० ८०

९. बाइबिल
कुरान शरीफ

न्याय दर्शन अदृष्ट (कर्म) को आत्मा का गुण मानता है और उसका फल ईश्वर के माध्यम से आत्मा को प्राप्त होना है।[१०] सांख्य दर्शन कर्म को प्रकृति का विकार मानता है।[११] अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पडता है, उस प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। बौद्ध दर्शन चित्तगत वासना को ही कर्म मानता है।[१२] वासना ही कार्य कारण भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है। मीमांसक यज्ञ आदि क्रियाओं को ही कर्म कहता है।[१३] पौराणिक मान्यतानुसार व्रत नियमादि धार्मिक अनुष्ठान कर्म हैं। वैयाकरणों की दृष्टि से कर्ता जिसे अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता है वह कर्म है। गीता[१४] उपनिषद् आदि ने अच्छे-बुरे कार्यों को कर्म कहा है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म केवल संस्कार मात्र नहीं है, किन्तु एक स्वतन्त्र तत्त्व है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग से जीव के द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है।[१५] अर्थात् आत्मा की राग द्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में स्थित अनन्तानन्त कर्म योग्य सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकृष्ट होकर आत्म प्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं, वे कर्म हैं। जैसे गर्म लोहपिण्ड पानी में रखने

---

१० ईश्वर कारणं पुरुषकर्म फलस्य दर्शनात्।

—न्यायसूत्र ४।१

११ अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्।

—सांख्यसूत्र ५।२५

१२ अभिधर्म कोष, चतुर्थ परिच्छेद

१३ तन्त्रवार्तिक पृ० ३६५-६

१४ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

—भगवद्गीता अ० ४ श्लो० २७

१५ कीरइ जीएण हेउहिं, जेण तो भण्णए कम्मं।

—कर्मग्रन्थ, प्रथम, गा० १ आचार्य देवचन्द्र,-

(ख) विसय कसायहिं रंगियहँ, जे अणुया लग्गंति।
जीव-पएसहँ मोहियहँ, ते जिण कम्म भणंति॥

—परमात्मप्रकाश १।६२

पर चारों ओर के पानी को खींचता है, वैसे ही आत्मा भी राग द्वेष के वशीभूत होकर कार्मणजातीय पुद्गलों को आकर्षित करता है

कर्म के भेद :

कर्म के मुख्यत. दो भेद है, द्रव्य कर्म और भाव कर्म। सासारिक जीव का[16] "रागद्वेपादिमय वैभाविक परिणाम भाव कर्म हैं, और उन वैभाविक परिणामो से आत्मा मे जो 'कार्मण वर्गणा' के पुद्गल सर्वात्मना चिपकते है, वे द्रव्य कर्म है।" द्रव्य कर्म और भाव कर्म में निमित्त-नैमित्तिक रूप द्विमुख कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। द्रव्य कर्म कार्य है और भाव कर्म कारण है। प्रस्तुत कार्य कारण भाव मुर्गी और अण्डे के कार्य कारण भाव सदृश है। मुर्गी से अण्डा उत्पन्न होता है, अत. मुर्गी कारण है और अण्डा कार्य है। मगर अण्डे से मुर्गी उत्पन्न होती है, अतएव अण्डा कारण और मुर्गी कार्य है। इस प्रकार दोनों कार्य और दोनों कारण है। यदि यह जिज्ञासा व्यक्त की जाय कि पहले मुर्गी थी या अण्डा? तो इसका समाधान नही दिया जा सकता, क्योकि अण्डा मुर्गी से होता है और मुर्गी भी अण्डे से समुत्पन्न होती है। अतः दोनो में कार्य कारण भाव स्पष्ट है। उनमे पौर्वापर्य भाव नहीं बतलाया जा सकता। संतति की दृष्टि से उनका पारस्परिक कार्य कारण भाव अनादि है। वैसे ही द्रव्य और भाव कर्म का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध संतति की अपेक्षा से अनादि है। दोनों एक दूसरे के उत्पन्न होने मे निमित्त है।

जैसे मिट्टी का एक पिण्ड घड़े आदि के रूप मे परिणत होने का उपादान कारण है, किन्तु कुम्भकाररूपी निमित्त के अभाव में वह घट नही बनता, वैसे ही कार्मण वर्गणा के पुद्गलो मे कर्म रूप में परिणत होने की शक्ति है, एतदर्थ पुद्गल द्रव्य कर्म का उपादान कारण है, पर जीव में भाव कर्म की सत्ता का अभाव हो तो पुद्गल द्रव्य कर्म में परिणत नही हो सकता। अतः भावकर्म द्रव्य कर्म का

---

१६. पोग्गल-पिंडो दव्व तस्सन्ति भावकम्म तु।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, आ० नेमिचन्द्र

निमित्त कारण है और द्रव्य कर्म भी भाव कर्म का निमित्त है। अत द्रव्य और भाव कर्म का कार्य कारण भाव उपादानोपादेय रूप न होकर निमित्त नैमित्तिक रूप है। अन्य दर्शनकारों ने भी द्रव्य और भाव कर्म को विविध नामों से स्वीकार किया है।[17]

कर्म का अस्तित्व

इस विराट् विश्व मे यत्र-तत्र सर्वत्र विषमता, विचित्रता और विविधता दृष्टिगोचर होती है। सब जीव स्वभावत समान होने पर भी उनमे मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि के रूप में जो महान् अन्तर दिखाई पड़ता है, इसका क्या कारण है? केवल मानव जगत् को ही लें, तो भी कोई निर्धन है, कोई धनी है। कोई स्वस्थ है, कोई रुग्ण है। कोई अज्ञ है, कोई विज्ञ है। कोई निर्बल है, कोई सबल है। कोई सुन्दर है कोई कुरूप है। कोई सुखी है, कोई दुखी है। कोई गगनचुम्बी अट्टालिकाओं मे रहता है तो कोई टूटी फूटी झोपड़ियों मे। कोई गुलाबजामुन और रसगुल्ले उड़ा रहा है तो कोई भूख से छटपटा रहा है। कोई बहुमूल्य और चमकदार वस्त्रों से अलकृत है तो कोई फटे पुराने चीथडो से वेष्टित है। यहा तक कि एक माता की कौख से उत्पन्न हुए पुत्रो मे भी दिन रात का अन्तर देखा जाता है, एक राजा है, दूसरा रक है। इस भेद और विषमता का मूल कारण क्या है? यह एक ज्वलंत प्रश्न है।

भारत के मननशील मेधावी मनीषियो ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—विषमता और विविधता का मूल कर्म है।[18] कर्म से ही विविधता और विषमता उत्पन्न होती है।[19] जैन दर्शन की तरह बौद्ध

---

१७ देखिए—आत्ममीमांसा, पं० दलसुख मालवणिया।

१८ कम्मओ णं भंते, जीवे, नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ।
कम्मओ णं जए? णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई॥

—भगवती १२।५

१९ कम्मुणा उवाही जायइ।

—आचारांग ३।१

दर्शन[२०], न्याय दर्शन[२१] वेदान्तदर्शन[२२] प्रभृति भी कर्म को ही जीव की विविध अवस्थाओ का कारण मानते है। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा।[२३]

सौटची स्वर्ण में कोई भेद नही होता, किन्तु विजातीय तत्त्व के संमिश्रण के कारण उसमें भेद होता है। वैसे ही निश्चय दृष्टि से

(ख) क्ष्माभृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयो. सद्रूपनीरूपयो.,
श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्तयो. ।
सौभाग्यासुभगत्व-संगम-जुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तरं,
यत्तत्कर्मनिबन्धन तदपि नो जीवं विना युक्तिमत् ॥

—कर्मग्रन्थ प्रथम टीका—देवेन्द्र सूरि

(ग) जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो ण सो विणा हेउं ।
कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ।

—विशेषावश्यक भाष्य, जिनभद्रगणी

२०. भासित पेतं महाराज, भगवता—कम्मस्सका माणवसत्ता, कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्मबन्धू, कम्मपटिसरणा, कम्म सते विभजति, यदिदं हीनपणीततायाति ॥

—मिलिन्द प्रश्न ३।२

(ख) कर्मजं लोकवैचित्र्यं ।

—अभिधर्म कोष ४।१

२१. जगतो यच्च वैचित्र्यं, सुखदु.खादिभेदत. ।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदयः ॥
अकस्मान्निधिलाभस्य विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिण. ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥

—न्यायमंजरी—जयन्तभट्ट

२२. ब्रह्मसूत्र—शाकर भाष्य २।१।१४

२३. करम प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

—रामचरितमानस

आत्माएं एक हैं, किन्तु जो भेद और विषमता है, वह कर्म के कारण से है।[२४]

आत्मा पहले या कर्म

आत्मा पहले है या कर्म पहले है? दोनों में पहले कौन है और पीछे कौन है? यह एक प्रश्न है।

उत्तर है—आत्मा और कर्म दोनों अनादि हैं। कर्मसंतति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षण जीव नूतन कर्म बांधता रहता है। ऐसा कोई भी क्षण नहीं, जिस समय सांसारिक जीव कर्म नहीं बांधता हो। इस दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध सादि भी कहा जा सकता है, पर कर्म-सन्तति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है।[२५]

अनादि का अन्त कैसे

प्रश्न है—जब आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है तब उसका अन्त कैसे हो सकता है? क्योंकि जो अनादि होता है उसका नाश नहीं होता।

---

२४ कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।

—आप्त मीमांसा—आचार्य समन्तभद्र

२५ जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसुगदी॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इन्दियाणि जायन्ते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि,
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥

—पंचास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण।
कम्मे जीउ वि जणिउ णवि दोहि वि आइ ण जेण॥
एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु।
बहुविह भावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु॥

—परमात्म प्रकाश १।५९।६०

उत्तर है—अनादि का अन्त नही होता, यह सामुदायिक नियम है, जो जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह नियम लागू नही भी होता। स्वर्ण और मिट्टी का, घृत और दुग्ध का सम्बन्ध अनादि है, तथापि वे पृथक्-पृथक् होते है। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त होता है।[२६] यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नही है। किसी एक कर्मविशेष का अनादि काल से आत्मा के साथ सम्बन्ध नही है। पूर्वबद्ध कर्म स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से पृथक् हो जाते है। नवीन कर्म का वन्धन होता रहता है। इस प्रकार प्रवाह रूप से आत्मा के साथ कर्मो का सम्बन्ध अनादि काल से है,[२७] न कि व्यक्तिशः। अतः अनादि कालीन कर्मो का अन्त होता है, तप और सयम के द्वारा नये कर्मो का प्रवाह रुकता है. सचित कर्म नष्ट होते है और आत्मा मुक्त बन जाता है।[२८]

आत्मा बलवान् या कर्म :

आत्मा और कर्म इन दोनो में अधिक शक्तिसम्पन्न कौन है? क्या आत्मा वलवान् है या कर्म बलवान है?

समाधान है—आत्मा भी वलवान् है और कर्म भी बलवान है। आत्मा मे भी अनन्त शक्ति है और कर्म मे भी अनन्त शक्ति है। कभी जीव, काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर कर्मो को पछाड़

---

२६ द्वयोरप्यनादिसम्बन्धः, कनकोपल-सन्निभः।

२७. यथाऽनादि स जीवात्मा, यथाऽनादिश्च पुद्गलः
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादि. स्यात् सम्बन्धो जीव-कर्मणो.।

—पंचाध्यायी २।४५, प० राजमल्ल

(ख) अस्त्यात्माऽनादितो बद्ध., कर्मभिः कार्मणात्मकैः।

—लोकप्रकाश ४२४

(ग) आदिरहितो जीवकर्मयोग इति पक्ष.।

—स्थानाङ्ग १।४।६ टीका

२८. खवित्ता पुव्वकम्माइ, संजमेण तवेण य।
सव्व-दुक्ख-पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो॥

—उत्तराध्ययन २५।४५

देता है, और कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनमे दब जाता है।[२९]

बहिर्दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते हैं, पर अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है, क्योंकि कर्म का कर्ता आत्मा है, वह मकडी की तरह कर्मों का जाल बिछाकर उसमे उलझता है। यदि वह चाहे तो कर्मों को काट भी सकता है। कर्म चाहे कितने भी अधिक शक्तिशाली हो, पर आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है।

लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर है और पानी मुलायम है, किन्तु मुलायम पानी पत्थर के भी टकडे टकडे कर देता है। कठोर चट्टानो मे भी छेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है। वीर हनुमान को जब तक स्व स्वरूप का परिज्ञान नही हुआ तब तक वह नागपाश म बँधा रहा, रावण की ठोकरें खाता रहा, अश्रमाना के जहरीले घूँट पीता रहा, किन्तु ज्यो ही उसे स्वरूप का ज्ञान हुआ, त्यो ही नाग पाश को तोडकर मुक्त हो गया। आत्मा को भी जब तक अपनी विराट चेतनाशक्ति का ज्ञान नही होता तब तक वह भी कर्मों को अपने से अधिक शक्तिमान् समझकर उनसे दबा रहता है, ज्ञान होने पर उनसे मुक्त हो जाता है।

कर्म और उसका फल

सासारिक जीव जो विविध प्रकार के कर्मों का बन्धन करते है, उन्हे विपाक की दृष्टि से भारतीय चिन्तको ने दो भागो मे विभक्त किया है, शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप अथवा कुशल, और अकुशल। इन दो भेदो का उल्लेख, जैन दर्शन,[३०] बौद्ध दर्शन[३१], साख्य

२९ कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुन्ति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वैराइ।
—गणधरवाद २-२५

३० शुभ पुण्यस्य,
अशुभ पापस्य
—तत्त्वार्थ सूत्र ६।३-४

३१ विशुद्धिमग्ग १७।८८

दर्शन[32], योग दर्शन[33], न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन[34] और उपनिषद्[35] आदि मे हुआ है। जिस कर्म के फल को प्राणी अनुकूल अनुभव करता है वह पुण्य है और प्रतिकूल अनुभव करता है वह पाप है। पुण्य के फल की सभी इच्छा करते है। किन्तु पाप के फल की कोई इच्छा नहीं करता। इच्छा न करने पर भी उसके विपाक से बचा नही जा सकता।

जीव ने जो कर्म बांधा है उसे इस जन्म में या आगामी जन्मों में भोगना ही पड़ता है।[36] कृत-कर्मो का फल भोगे विना आत्मा का छुटकारा नही हो सकता।[37]

महात्मा बुद्ध कहते है "चाहे अन्तरिक्ष में चले जाओ, समुद्र में घुस जाओ, गिरि कंदराओं मे छिप जाओ। किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नहीं, जहाँ तुम्हे पाप कर्मो का फल भोगना न पड़े।[38]

वेदपंथी कवि सिहलन मिश्र भी यही कहते है कि कही भी चले जाओ, परन्तु जन्मान्तर मे जो शुभाशुभ कर्म किये है, उनके

---

३२. साख्यकारिका ४४

३३. योगसूत्र २।१४

(ख) योगभाष्य २।१२

३४. न्याय मजरी पृ० ४७२।

(ख) प्रशस्तपाद पृ० ६३७।६४३

३५. वृहदारण्यक ३।२।१३

३६. परलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जंति,
इहलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जंति।

—भगवती सूत्र

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ७७

३७. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

—उत्तराध्ययन ४।३

३८. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे,
न पव्वतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेशो,
यत्थट्ठितो मुञ्चेऽय्य पावकम्मा॥

—धम्मपद ९।१२

फल तो छाया के समान साथ ही साथ रहेंगे। वे तुम्हें कदापि नहीं छोड़ेंगे।"[३९]

आचार्य अमितगति का कथन है—'अपने पूर्वकृत कर्मों का ही शुभाशुभ फल हम भोगते हैं, यदि अन्य द्वारा दिया फल भोगें तो हमारे स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे।"[४०]

अध्यात्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य कुन्दकुन्द का भी यही स्वर है—"जीव और कर्मपुद्गल परस्पर गाढ रूप में मिल जाते हैं, समय पर वे पृथक्-पृथक् भी हो जाते हैं। जब तक जीव और कर्म पुद्गल परस्पर मिले रहते हैं तब तक कर्म सुख-दुःख देता है और जीव को वह भोगना पड़ता है।"[४१]

महात्मा बुद्ध ने एक बार पैर में काँटा बिंध जाने पर अपने शिष्यों से कहा—"भिक्षुओ! इस जन्म से एकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र-

---

३९ आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त-
मम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणां,
छायेव न त्यजति कर्म फलानुबन्धि॥
—शान्तिशतकम् ८२

४० स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥
—द्वात्रिंशिका, ३०

४१ जीवा पुग्गलकाया
अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा
सुहदुक्खं दिंति भुंजंति॥
—पञ्चास्तिकाय ६७

४

विशेष) से एक पुरुष की हत्या हुई थी। उसी कर्म के कारण मेरा पैर काँटे से विंध गया है।"[४२]

भगवान् महावीर के जीवन प्रसंगों से भी यह वात स्पष्ट है कि उन्हे साधनाकाल मे जो रोमांचकारी कष्ट सहने पडे थे, उनका मूल कारण पूर्वकृत कर्म ही थे।[४३]

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?

पहले वताया जा चुका है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका फल उसे प्राप्त होता है। शुभकर्म का फल शुभ होता है और अशुभकर्म का फल अशुभ होता है।[४४]

कर्म की मुख्यत· दो अवस्थाएँ है—वंध (ग्रहण) और उदय (फल)। कर्म को बाधने मे जीव स्वतन्त्र है, किन्तु उसके फल को भोगने में वह स्वतन्त्र नही है, कर्म के अधीन है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है वह चढने मे स्वतन्त्र है, अपनी इच्छानुसार चढ सकता है किन्तु असावधानीवश गिर जाय तो वह गिरने में स्वतन्त्र नही है।[४५] वह इच्छा से गिरना नही चाहता तथापि गिर जाता है, अत· गिरने मे परतन्त्र है। इसी प्रकार भग पीने मे स्वतन्त्र है, किन्तु उसका परिणाम भोगने मे परतन्त्र है। उसकी इच्छा न होते हुए भी भंग अपना चमत्कार दिखलाएगी ही। उसकी इच्छा का फिर कोई मूल्य नही है।

---

४२. इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत.।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोस्मि भिक्षव.॥

—षड्दर्शन समुच्चय, टीका

४३. देखिए . लेखक का 'महावीर जीवनदर्शन ग्रन्थ'

४४. सुच्चिण्णा कम्मा सुच्चिण्णफला भवंति,
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवति।

—दशाश्रुत स्कन्ध, ६

४५. कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलस परवसो तत्तो॥

—विशेषावश्यक, भाष्य १–२

उक्त कथन का यह अर्थ नहीं कि बद्ध कर्मों के विपाक में आत्मा कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता। जैसे भंग के नशे की विरोधी वस्तु के सेवन से भंग का नशा नहीं चढ़ता या नाम मात्र को चढ़ता है, उसी प्रकार प्रशस्त अध्यवसायों के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म के विपाक को मन्द भी किया जा सकता है और नष्ट भी किया जा सकता है। उस अवस्था में कर्म, प्रदेशों में उदित होकर ही निर्जीर्ण होजाते हैं। उसकी कालिक मर्यादा (स्थितिघात) को कम करके शीघ्र उदय में भी लाया जा सकता है। नियतकाल से पूर्व कर्मों को उदय में ले आना 'उदीरणा' कहलाता है।

'पातंजलयोग' भाष्य में भी अदृष्ट-जन्य वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ निरूपित की हैं। उनमें से एक गति यह है—"कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।" इसे जैन पारिभाषिक शब्दों में प्रदेशोदय कहा है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शनकारों ने जहाँ कर्म को संस्कार और वासनारूप माना है, वहाँ जैनदर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। कर्म आत्मा का गुण नहीं है, किन्तु वह आत्मगुणों का विघातक है। परतन्त्र बनाने वाला और दुःखों का कारण है। यह तथ्य है, 'जिस वस्तु का जो गुण है वह उसका विघातक नहीं होता। कर्म आत्मा का विघातक है अतः आत्मा का गुण नहीं हो सकता। कर्म पौद्गलिक न होता तो वह आत्मा की पराधीनता का कारण नहीं हो सकता था।

जैनदर्शन की दृष्टि से द्रव्य कर्म पौद्गलिक है। पुद्गल मूर्त ही होता है। उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये चार गुण होते हैं। जिसका कारण पौद्गलिक होता है उसका कार्य भी पौद्गलिक होता है। जैसे कपास भौतिक है, तो उससे बनने वाला वस्त्र भी भौतिक ही होगा। जैसे कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है वैसे ही कारण से भी कार्य का अनुमान किया जा सकता है। शरीर आदि कार्य

पौद्गलिक और मूर्त है, अतः उसका कारण कर्म भी पौद्गलिक और मूर्त ही होना चाहिए।[४६]

मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव :

प्रश्न है—कर्म मूर्त है तो उसका प्रभाव अमूर्त आत्मा पर कैसे होता है ? उत्तर है—जैसे मदिरा और क्लोरोफार्म का प्रभाव अमूर्त चेतना आदि गुणो पर प्रत्यक्ष देखा जाता है, वैसे ही अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है।[४७]

उक्त प्रश्न का दूसरा समाधान यह है कि अनन्तकाल से आत्मा कर्म से सम्बद्ध होने के कारण स्वभावत अमूर्त होते हुए भी ससारी अवस्था मे मूर्त है।[४८] इस कारण भी वह कर्म से प्रभावित होता है।[४९] जो आत्मा कर्ममुक्त है, उन्हे कर्म का बन्धन नही होता, पूर्व कर्म से बंधा हुआ जीव ही नए कर्मो का वंधन करता है।[५०]

गौतम—भगवन् ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है ?[५१]

---

४६. मुत्तो फासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण वधमणुहवदि,
जीवो मुत्तिविरहिदो, गाहदि ते तेहिं उग्गहदि।
—पंचास्तिकाय १३४

४७. मुत्तेणामुत्तिमओ उवघाया-ऽणुग्गहा कहं होज्जा ?
जह विण्णाणाईएा मइरापाणो-सहाईहिं।
—विशेषावश्यक, भाष्य गा० १६३७

४८. अहवा नेगंतोऽयं संसारी सव्वहा अमुत्तोत्ति।
जमणाइकम्मसंतइपरिणामावन्नरूवो सो॥
—विशेषावश्यक, भाष्य गा० १६३८

४९. वण्ण रस पंच गन्धा, दो फासा अट्ठ णिच्छिया जीवे।
णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति वंधादो॥
—द्रव्यसग्रह

५०. समिय दुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ।
—आचारांग २।६।१०५

५१. दु.खनिमित्तत्वाद् दु खं कर्म, तद्वान् जीवो दु.खी।
—भगवती, टीका ७।१।२३६

महावीर—गौतम ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता है। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा, वेदना, और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी नहीं।[५२]

गौतम—भगवन् ! कर्म कौन बांधता है—संयत, असंयत, अथवा संयतासंयत ?

महावीर—असंयत, संयतासंयत और संयत ये सभी कर्म बांधते हैं।[५३]

तात्पर्य यह है कि जो सकर्म आत्मा हैं वे ही कर्म बांधती है, उन्हीं पर कर्म का प्रभाव होता है।

कर्म बंध के कारण

जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणों से बंधते है, यह एक सहज जिज्ञासा है। गौतम ने प्रश्न किया—भगवन् ! जीव कर्म बन्ध कैसे करता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से, दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों को बांधता है।[५४]

स्थानाङ्ग[५५] समवायाग[५६] मे तथा उमास्वाति ने कर्मबंध के

---

५२ भगवती ७।१।२६६

५३ भगवती ६।३

५४ भंते ! जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधति ?
गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्ज कम्मं नियच्छति, दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दसणमोहणिज्ज कम्मं णियच्छइ दसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्त णियच्छइ मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ।
प्रज्ञापना २३।१।२८९

५५ पंच आसवदारा पण्णत्ता,—समवायाग, समवाय ५।

५६ स्थानाङ्ग ४१८।

पाँच करण बताये है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय, और योग।[५७]

संक्षेप दृष्टि से कर्म बंध के दो कारण हैं— कपाय और योग।[५८]

कर्मबन्ध के चार भेद है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।[५९] इनमे प्रकृति और प्रदेश का बंध योग से होता है। स्थिति व अनुभाग का बंध कपाय से होता है।[६०] संक्षेप मे कहा जाय तो कपाय ही कर्म बंध का मुख्य हेतु है।[६१] कपाय के अभाव मे समपरायिक कर्म का बंध नही होता। दसवें गुणस्थान तक दोनो कारण रहते है अत. वहाँ तक साम्परायिक बंध होता है। कपाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिक बन्ध कहलाता है। और गमनागमन आदि क्रियाओं से जो कर्म बंध होता है वह ईर्यापथिक बंध कहलाता है।[६२] ईर्यापथ कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन[६३] प्रज्ञापना[६४] मे दो समय की मानी है और

---

५७. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा बन्धहेतवः।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१

५८. जोगबंधे, कसायबंधे।

—समवायाङ्ग

५९. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।४

६०. जोगा पयडिपएस ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ।

—पंचम कर्मग्रन्थ गा० ९६

जीवाणं चउहि ठाणेहि अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिसु तं० कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं। —स्थानांग, ४ स्थान

६१. सकपायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।२

६२. सकपायाकपाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।

—तत्त्वार्थ० ६।५

६३. जाव सजोगी भवइ, ताव ईरियावहियं कम्मं निबन्धइ सुहफरिसं दुसमयठिइय। तं पढमसमए बद्धं, बिइयसमये वेइय, तइयसमये निज्जिण्ण। —उत्तरा० अ० २९ प्र० ७१

६४. सातावेदणिज्जस्स इरियावहियबंधगं पडुच्च अजहण्णमणुक्कोसेणं दो समया। —प्रज्ञापना २३।१३ पृ० १३७

प० सुखलाल जी ने[६५] सिर्फ एक समय की मानी है। योग होने पर भी अगर कषायाभाव हो तो उपार्जित कर्म की स्थिति या रस का बंध नहीं होता। स्थिति और रस दोनो का बंध का कारण कषाय ही है।

विस्तार से कषाय के चार भेद है—क्रोध, मान, माया और लोभ।[६६] स्थानाङ्ग और प्रज्ञापना मे कर्म बंध के ये चार कारण बताये हैं। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं राग और द्वेष।[६७] राग और द्वेष इन दोनो मे भी उन चारो का समन्वय हो जाता है। राग मे माया और लोभ, तथा द्वेष मे क्रोध और मान का समावेश होता है।[६८] राग और

---

६५ तत्त्वार्थ सूत्र—प० सुखलाल जी पृ० २१७

६६ कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थ-दोसा।

—सूत्रकृताङ्ग, सूत्र ६।२६

(ख) स्थानाङ्ग ४।१।२५१

(ग) प्रज्ञापना २३।१।२९०

६७ रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।

—उत्तरा० ३२।७

६८ दोहिं ठाणेहिं पापकम्मा बंधति रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते। माया य लोभ य। दोसे दुविहे कोहे य माणे य।

—स्थानाङ्ग सूत्र २।३

(ख) जीवणं भंते, णाणावरणिज्जं कम्मं कतिहिं ठाणेहिं बंधति? गोयमा! दोहिं ठाणेहिं, तंजहा—रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—माया य लोभे य। दोसे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—कोहे य माणे य।

—प्रज्ञापना, २३

(ग) परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं, णाणावरणादिभावेहिं॥

—प्रवचनसार, गा० ९५

द्वेष के द्वारा ही अष्टविध कर्मों का बंधन होता है।[६९] अतः राग द्वेष को ही भाव कर्म माना है।[७०] राग-द्वेष का मूल मोह ही है।

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जिस मनुष्य के शरीर पर तेल चुपड़ा हुआ हो, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से लिप्त हो जाता है, वैसे ही राग द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए आत्मा पर कर्म रज का बंध हो जाता है।[७१]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्यात्व को जो कर्मबन्धन का कारण कहा है, उसमे भी राग द्वेष ही प्रमुख हैं। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान विपरीत होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ मिथ्यात्व होता है वहाँ अन्य कारण स्वतः होते हैं। अतः शब्द भेद होने पर भी सभी का सार एक है। केवल संक्षेप-विस्तार के विवक्षाभेद से उक्त कथनो मे भेद समझना चाहिए।

जैन दर्शन की तरह बौद्धदर्शन ने भी कर्मबंधन का कारण मिथ्याज्ञान अथवा मोह माना है।[७२] न्याय दर्शन का भी यही मन्तव्य है कि मिथ्याज्ञान ही मोह है, प्रस्तुत मोह केवल तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति रूप नहीं है, किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि ये

---

६९. बद्ध्यतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्।

—प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति, आचार्य नमि

७०. उत्तराध्ययन ३२।७

(ख) स्थानाङ्ग २।२

(ग) समयसार ९४।९६।१०९।१७७

(घ) प्रवचनसार १।८४।८८

७१. स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य,
रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
राग-द्वेषाक्लिन्नस्य,
कर्म-बंधो भवत्येवम् ॥

—आवश्यक टीका

७२. सुत्तनिपात, ३।१२।३३

(ख) विसुद्धिमग्ग, १७।३०२

(ग) मज्झिम निकाय, महातण्हासंखयसुत्त, ३८

अनात्मा होने पर भी इनमे "मैं ही हूँ" ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान और मोह है। यही कर्म बन्धन का कारण है।[७३] वैशेषिक दर्शन भी प्रकृत कथन का समर्थन करता है।[७४] सांख्यदर्शन भी बंध का कारण विपर्यास मानता है[७५] और विपर्यास ही मिथ्याज्ञान है। योगदर्शन क्लेश को बंध का कारण मानता है और क्लेश का कारण अविद्या है।[७७] उपनिषद्[७८] भगवद्‌गीता,[७९] और ब्रह्मसूत्र मे भी अविद्या को ही बंध का कारण माना है।

---

७३ न्यायभाष्य ४।२।१

(ख) दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग।

—न्यायसूत्र १।१।२

(ग) तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहान्तरभावात्।

—न्यायसूत्र ४।१।३

(घ) तेषां मोह पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्ते।

—न्यायसूत्र ४।१।६

७४ प्रशस्तपाद पृ० ५३८ विपर्ययनिरूपण।

(ख) प्रशस्तपाद भाष्य, ससारापवर्ग प्रकरण।

७५ सांख्यकारिका—४४–४७–४८

७६ ज्ञानस्य विपर्ययाऽज्ञानम्।

—माठर वृत्ति ४४

७७ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥

—योगदर्शन २।३।४

७८ अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीरा पण्डितमन्यमाना।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा॥

—कठोपनिषद् १।२।५

७९ अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तव,
ज्ञानेन तु तदज्ञानं, येषां नाशितमात्मन।

× × ×

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

—भगवद्‌गीता ५।१५-१६

इस प्रकार जैन दर्शन और अन्य दर्शनो मे कर्म बंध के कारणों में शब्दभेद और प्रक्रियाभेद होने पर भी मूल भावनाओं में खास भेद नही है।

ईश्वर और कर्मवाद :

जैन दर्शन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है।[८०] न्यायदर्शन[८१] की तरह वह कर्म फल का नियन्ता ईश्वर को नही मानता। कर्म फल का नियमन करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नही है। कर्म परमाणुओ मे जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुत्पन्न होता है।[८२] जिससे वह द्रव्य,[८३] क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति[८४] प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन मे समर्थ होकर आत्मा के संस्कारों को मलिन करता है। उससे उनका फलोपभोग होता है। पीयूष और विष, पथ्य और अपथ्य भोजन मे कुछ भी ज्ञान नही होता, तथापि आत्मा का संयोग पाकर वे अपनी अपनी प्रकृति के अनुकूल विपाक उत्पन्न करते है। वह विना किसी प्रेरणा अथवा विना ज्ञान के अपना कार्य करते ही है। अपना प्रभाव डालते ही है।

कालोदायी अनगार ने भगवान् श्री महावीर से प्रश्न किया— भगवन्! क्या जीवो के किये गये पाप कर्मो का परिपाक पापकारी होता है।[८५]

---

८०. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

—उत्तरा० २०।३७

८१. ईश्वर कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्।

—न्याय दर्शन, सूत्र ४।१

(ख) तत्कारित्वादहेतु.।

—गौतमसूत्र, अ० ४, आ० १ सू० २१

८२. भगवती ७-१०।

८३. दव्व खेत्तं, कालो, भवो य भावो य हेयवो पंच।
हेतुसमासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईणं॥

—पचसंग्रह

८४. प्रज्ञापना पृष्ठ २३

८५. भगवती ७।१०

भगवान ने उत्तर दिया—कालोदायी, हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुन जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन्! किस प्रकार होता है?

भगवान् ने रूपक की भाषा म समाधान करते हुए कहा—कालोदायी! जिस प्रकार कोई पुरुष मनोज्ञ, सम्यक् प्रकार से पका हुआ शुद्ध, अष्टादश व्यजनो से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है। वह भोजन आपातभद्र—खाते समय—अच्छा होता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका परिणमन होता है त्यो त्यो उसम विकृति उत्पन्न होती है, वह परिणामभद्र नही होता। इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्या-दर्शन शल्य (अठारह प्रकार के पाप कर्म) आपातभद्र और परिणाम-अभद्र होते हैं। कालोदायी, इसी प्रकार पाप कर्म पापविपाक वाले होते है।[८६]

कालोदायी ने निवेदन किया—भगवन्! क्या जीवो के किये हुए कल्याण-कर्मो का परिपाक कल्याणकारी होता है?

भगवान् ने कहा—हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुन तर्क किया—भगवन्! कैसे होता है?

भगवान ने कहा—कालोदयी! प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्या दर्शनशल्य विरति आपातभद्र प्रतीत नही होती, पर परिणामभद्र होती है। इसी प्रकार हे कालोदायी! कल्याणकर्म भी कल्याणविपाक वाले होते हैं।[८७]

---

८६ अत्थि ण भन्ते! जीवाण पावा कम्मा पावफलविवागसजुत्ता कज्जति? हन्ता, अत्थि। कह ण भते! जीवाण पावा कम्मा पावफलविवाग सजुत्ता कज्जति? कालोदाई! जीवाण पाणाइवाए जाव मिच्छादसणसल्ल तस्स ण आवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा विप रिणममाणे विपरिणममाणे दुरूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति। एव खलु कालोदाई! जीवाण पावा कम्मा पावफलविवागसजुत्ता कज्जति। —भगवती ७।१०

८७ अत्थि ण भते! जीवाण कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसजुत्ता कज्जन्ति?

जैसे गणित करनेवाली मशीन जड़ होने पर भी अंक गिनने में भूल नहीं करती, वैसे ही कर्म भी जड़ होने पर भी फल देने में भूल नहीं करता, उसके लिए ईश्वर को नियन्ता मानने की आवश्यकता नहीं है। आखिर ईश्वर वही फल प्रदान करेगा जैसे जीव के होंगे। कर्म के विपरीत वह कुछ भी देने मे समर्थ नही होगा। इस प्रकार एक ओर ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार न देना, वस्तुतः ईश्वर का उपहास है। इससे यह भी सिद्ध है कि कर्म की शक्ति ईश्वर से भी अधिक है और ईश्वर भी उसके अधीन ही कार्य करता है। दूसरी दृष्टि से कर्म मे भी कुछ करने-धरने की शक्ति नही माननी होगी, क्योंकि वह ईश्वर के सहारे से ही अपना फल दे सकता है। इस प्रकार दोनो एक दूसरे के अधीन हो जाएँगे। इससे तो यही श्रेष्ठ है कि स्वयं कर्म को ही अपना फल देने वाला स्वीकार किया जाय। इससे ईश्वर का ईश्वरत्व भी अक्षुण्ण रहेगा और कर्मवाद के सिद्धान्त मे भी किसी प्रकार की बाधा समुपस्थित नही होगी। जैन सस्कृति की चिन्तनधारा भी प्रस्तुत कथन का ही समर्थन करती है।

कर्म का संविभाग नही :

वैदिक दर्शन का यह मन्तव्य है कि आत्मा सर्वशक्तिमान् ईश्वर के हाथ की कठपुतली है। उसमे स्वयं कुछ भी कार्य करने की क्षमता नही है। स्वर्ग और नरक मे भेजने वाला, सुख और दुःख को देने

हंता ! अत्थि ! कहं णं भंते ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जन्ति ?....कालोदाई ! जीवाण पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे, कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्स ण आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति।

—भगवती ७।१०

वाला ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव स्वर्ग और नरक मे जाता है।[८८]

जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्त ने प्रस्तुत कथन का खण्डन करते हुए कहा कि—ईश्वर किसी का उत्थान और पतन करने वाला नही है। वह तो वीतराग है। आत्मा ही अपना उत्थान और पतन करता है। जब आत्मा स्वभाव दशा म रमण करता है तब उत्थान करता है और जब विभाव दशा म रमण करता है तब उसका पतन होता है। विभाव दशा मे रमण करने वाला आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है, और स्वभावदशा मे रमण करने वाला आत्मा कामधेनु और नन्दनवन है।[८९] यह आत्मा सुख और दुख का कर्ता, भोक्ता स्वय ही है। शुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा मित्र है, और अशुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा शत्रु है।[९०]

जैन दर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है कि जो भी सुख और दुख प्राप्त हो रहा है उसका निर्माता आत्मा स्वय ही है। जैसा आत्मा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल भोगना पडेगा।[९१] वैदिकदर्शन और बौद्ध

---

८८ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुख-दुखयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥
—महाभारत, वनपर्व अ० ३० श्लो० २८,

८९ अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेनू, अप्पा मे नदण वण ॥
—उत्तराध्ययन २०।३६

९० अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ ॥
—उत्तराध्ययन २०।३७

९१ ससारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारण ज च करेइ कम्म ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, ण बधवा बधवय उवेंति ॥
—उत्तराध्ययन ४।४

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नाल ते मम ताणाय, लुप्पतस्स सकम्मुणा ॥
—उत्तराध्ययन ६।३

दर्शन की तरह वह कर्म फल के संविभाग मे विश्वास नहीं करता। विश्वास ही नही, किन्तु उस विचारधारा का खण्डन भी करता है।[९२] एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति मे विभक्त नही किया जा सकता। यदि विभाग को स्वीकार किया जायेगा तो पुरुपार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है ? पाप पुण्य करेगा कोई और, भोगेगा कोई और। अत. यह सिद्धान्त युक्ति-युक्त नही है।

कर्म का कार्य :

कर्म का मुख्य कार्य है—आत्मा को संसार में आवद्ध रखना। जव तक कर्मवध की परम्परा का प्रवाह प्रवहमान रहता है, तव तक आत्मा मुक्त नहीं वन सकता। यह कर्म का सामान्य कार्य है। विशेष रूप से देखा जाय तो भिन्न भिन्न कर्मो के भिन्न भिन्न कार्य है; जितने कर्म है उतने ही कार्य हैं। जैन कर्मशास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ है, जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एव प्रतिकूल फल प्रदान करती है। उनके नाम ये है—(१) ज्ञानावरण

---

९२. आत्ममीमांसा प० दलसुख मालवणिया पृ० १३१

(ख) श्री अमर भारती, भारतीय दर्शनो मे कर्मविवेचन।

—उपाध्याय अमरमुनि

९३. मिलिन्द प्रश्न ४।८।३०–३५ पृ० २८८

(ख) कथावत्थु ७।६।३ । पृ० ३४८

९४. स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं।
स्वय कृतं कर्म निरर्थक तदा॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेवमनन्य - मानसः
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥

—द्वात्रिंशिका, आचार्य अमितगति ३०–३१

(२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) और अन्तराय।[९५]

इन आठ कर्म प्रकृतियों के भी दो अवान्तर भेद हैं। इनमें चार घाती हैं, और चार अघाती हैं। ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) मोहनीय (४) अन्तराय ये चार घाती हैं।[९६] (१) वेदनीय (२) आयु (३) नाम और (४)गोत्र ये अघाती हैं।[९७]

जो कर्म आत्मा से बंधकर उसके स्वरूप का या उसके स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं वे घाती कर्म हैं। इन की अनुभाग शक्ति का

---

९५ नाणस्सावरणिज्ज, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्ज तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ।

—उत्तराध्ययन ३३।२-३

(ख) स्थानाङ्ग ८।३।५९६
(ग) प्रज्ञापना २३।१
(घ) भगवती शतक ६, उद्दे० ९ पृ० ४५३
(ङ) तत्त्वार्थ सूत्र ८।५
(च) प्रथम कर्मग्रन्थ गा० ३
(छ) पंचसंग्रह २-२

९६ तत्र घातीनि चत्वारि, कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया।
घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः॥

—पंचाध्यायी २।९९८

(ख) आवरणमोहविग्घं, घादी जीवगुणघादणत्तादो।

—गोमटसार-कर्मकाण्ड ९

९७ ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघातिविवक्षया।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिवत्॥

—पंचाध्यायी २।९९९

(ख) आउगणामं गोदं, वेयणियं तह अघादित्ति।

—गोमटसार कर्मकाण्ड ९

सीधा असर आत्मा के ज्ञान आदि गुणो पर होता है। इनसे गुण विकास अवरुद्ध होता है, जैसे बादल सहस्ररश्मि सूर्य के चमचमाते प्रकाश को आच्छादित कर देता है, उसकी रश्मियो को बाहर नही आने देता, वैसे ही घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण (१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त सुख (४) और अनन्त वीर्य गुणों को प्रकट नहीं होने देता। ज्ञानावरणीय कर्म जीव की अनन्त ज्ञान शक्ति को प्रकट नही होने देता। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के अनन्त दर्शन शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक् श्रद्धा, और सम्यक् चारित्र गुण का अवरोध करता है, जिससे आत्मा को अनन्त सुख प्राप्त नही होता। अन्तराय कर्म आत्मा की अनन्त वीर्यशक्ति आदि का प्रतिघात करता है, जिससे आत्मा अपनी अनन्त विराट् शक्ति का विकास नही कर पाता। इस प्रकार घातीकर्म आत्मा के विभिन्न गुणों का घात करते हैं।

जो कर्म आत्मा के निज गुण का घात नही कर केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करता है, वह अघाती कर्म है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यो से होता है, इनकी अनुभाग-शक्ति जीव के गुणों पर सीधा असर नही करती। अघाती कर्मो के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यों से सम्बन्ध जुड़ता है। जिससे आत्मा "अमूर्तोऽपि मूर्त इव" रहती है। उसे शरीर के कारागृह मे बद्ध रहना पड़ता है। जो जीव के गुण (१) अव्याबाध सुख (२) अटल अवगाहन (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुभाव को प्रकट नही होने देता। वेदनीयकर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छन्न करता है। आयुष्य कर्म आत्मा की अटल अवगाहना-शाश्वत स्थिरता को नही होने देता। नाम कर्म आत्मा की अरूपी अवस्था को आवृत किये रहता है। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरुलघुभाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अपना प्रभाव दिखाते है। जब घाति कर्म नष्ट हो जाते है, तब आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है।[९८] और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब विदेह, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

---

९८. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्।

—तत्त्वार्थ १०।१

ज्ञानावरण कर्म

जीव चैतन्यमय है। उपयोग उसका लक्षण है।[९९] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का सग्राहक है।[१००] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग।[१०१] जिसमे जाति, गुण, क्रिया आदि विशेष धर्मों का बोध होता है वह ज्ञानोपयोग है और जिसमे सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता मात्र का बोध होता है वह दर्शनोपयोग है।[१०२] जिस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है वह ज्ञानावरण कर्म है। आत्मा के ज्ञानमय स्वभाव को आवृत करने वाले इस कर्म की तुलना कपडे की पट्टी से की गई है। जसे नेत्रो पर कपडे की पट्टी लगा देने से नेत्र ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा की समस्त पदार्थों को सम्यकतया जानने की ज्ञान शक्ति आच्छादित हो जाती है।[१०३]

---

९९ जीवो उवओग लक्खणो।

—उत्तरा० २८।१०

१०० जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदसणो होई।

—नियमसार, १०

१०१ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।

—तत्त्वार्थ० २।९

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य २।९

१०२ प्रमाणनयतत्त्वालोक २।७

१०३ एस ज आवरण पडुव्व चक्खुस्स त तयावरण।

—प्रथम कर्मग्रन्थ, ९

(ख) पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभडयारीण,
जह एदेसि भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा।

—गोमटसार (कर्मकाण्ड) २१

ज्ञानावरण कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियाँ हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधि ज्ञानावरण (४) मन.पर्याय ज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।[१०४]

मतिज्ञानावरण कर्म इन्द्रियो व मन से होने वाले ज्ञान का निरोध करता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। अवधिज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाले रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवरुद्ध करता है। मन. पर्यायज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना संज्ञी जीवों के मनोगत भावो को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवल ज्ञानावरण कर्म, सर्व द्रव्यो और पर्यायो को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सर्व घाती और देश घाती रूप से दो प्रकार की है।[१०५] जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का पूर्णतया घात करे वह सर्वघाती है और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आंशिक रूप से घात करे वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्याय ज्ञानावरण ये चार

(ग) सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायणं जमिह।
णाणावरणं कम्मं पडोवम होइ एव तु॥
—स्थानांग, २।४।१०५ टीका मे उद्धृत

१०४. नाणावरणं पचविहं, सुयं आभिणिवोहियं।
ओहिनाणं च तइयं मणनाणं च केवलं॥
—उत्तराध्ययन० ३३।४

(ख) प्रज्ञापना २३।२

(ग) स्थानाङ्ग ५।४६४

(घ) तत्त्वार्थ० ८।६–७

१०५. णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पं० तं०—देसनाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।
—स्थानाङ्ग सूत्र २।४।१०५

देशघाती है और केवल ज्ञानावरण सर्वघाती है। सर्वघाती कहने का तात्पर्य प्रधानतम आवरण की अपेक्षा से है। केवल ज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञान गुण को सर्वथा आवृत नहीं करता, परन्तु केवल ज्ञान का सर्वथा निरोध करता है। निगोदस्थ जीवों में उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है। जैसे घनघोर घटाओं से सूर्य के पूर्णतः आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का कुछ अंश अनावृत रहता है जिससे दिन और रात का विभाग प्रतीत होता है, वैसे ही ज्ञान का अनन्तवां भाग नित्य अनावृत रहता है।[१०६] जैसे घनघोर घटाओं को विदीर्ण कर सूर्य की प्रभा भूमण्डल पर आती है, पर सभी मकानों पर उसकी प्रभा एक सदृश नहीं गिरती, मकानों की बनावट के अनुसार मन्द और मन्दतर और मन्दतम गिरती है, वैसे ही ज्ञान की प्रभा मतिज्ञानावरण आदि के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम होती है। ज्ञान, पूर्णरूप से तिरोहित कभी नहीं होता। यदि ऐसा हो जाय तो जीव अजीव हो जाए।

इस कर्म की स्थिति अधिकतम तीस कोटा-कोटि सागरोपम और न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त की है।[१०७]

---

१०६ (क) देश—ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्व ज्ञान—केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयं, केवलावरणं हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य। जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरणं। मत्याद्यावरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुड्यादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति। —ठाणाङ्ग, २।४।१०५ टीका

(ख) स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग, पृ० ६४-६८ पं० दलसुख मालवणिया।

(ग) सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स
अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ हवइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा।
'सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं।'
—नन्दीसूत्र ४३

१०७ उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

दर्शनावरण कर्म

पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का बोध करना दर्शनोपयोग है।[१०८] जिस कर्म के प्रभाव से दर्शनोपयोग आच्छादित रहता है वह दर्शनावरणीय कर्म है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार बन्द हो जाता है। इस कर्म की तुलना शासक के उस द्वारपाल से की गई है जो शासक से किसी व्यक्ति को मिलने में बाधा उपस्थित करता है। द्वारपाल की बिना आज्ञा के व्यक्ति शासक से नहीं मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म वस्तुओं के सामान्य बोध को रोकता है।[१०९] पदार्थों के देखने में अड़चन डालता है।

दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवल दर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि।[११०]

आवरणिज्जाण दुण्हं पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया॥

—उत्तराध्ययन ३३।१९–२०

(ख) आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य: परा स्थितिः।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१५

(ग) पञ्चम कर्मग्रन्थ गा० २६

१०८. जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टु आगारं।
अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिह वुच्चए समये॥

१०९. दसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्म।
त पडिहारसमाणं, दसणवरणं भवे जीवे॥

—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

दंसणचउ पणनिद्दा, वित्तिसम दंसणावरणं।

—प्रथम कर्मग्रन्थ ९

(ग) गोम्मटसार कर्मकाण्ड २१, नेमिचन्द्र

११०. निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पचमा होइ नायव्वा॥

चक्षुर्दर्शनावरण कर्म नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अचक्षुदर्शनावरण कर्म—चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अवधि दर्शनावरण कर्म—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यों का जो सामान्य बोध होता है उसे आच्छादित करता है। केवलदर्शनावरण कर्म सब द्रव्य और पर्यायों के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को आवृत करता है। निद्रा कर्म वह है, जिससे सुप्त प्राणी सुख से जाग सके, ऐसी हल्की निद्रा उत्पन्न हो। निद्रानिद्रा कर्म से ऐसी नींद उत्पन्न होती है जिससे सुप्त प्राणी कठिनाई से जाग सके। प्रचला—जिस कर्म से ऐसी नींद उत्पन्न हो कि खड़े-खड़े और बैठे-बैठे भी नींद आये। प्रचला प्रचला कर्म—जिससे चलते फिरते भी नींद आये। स्त्यानर्धि—जिस कर्म से दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्यविशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करे, वैसी प्रगाढ़तम नींद।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप में दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण देशघाती है और शेष छह प्रकृतियाँ सर्वघाती है।[111] सर्वघाती प्रकृतियों में केवल

चक्खुमचक्खूओहिस्स, दसणे केवले य आवरणे।
तह [illegible] नवविगप्प, नायव्व दसणावरणे॥

—उत्तरा० ३३।५-६

(ख) समवायाङ्ग सू० ६
(ग) स्थानाङ्ग ८।३।६६८
(घ) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।८

(ङ) प्रज्ञापना २३।१
(च) कर्मग्रंथ

111 दरिसणावरणिज्जे कम्मे एव चेव।
टीका—दर्शनावरणीय चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शना वरणीय तु निद्रापञ्चक केवलदर्शनावरणीय च, भावना तु पूर्ववदिति।

—ठाणाङ्ग २।४।१०५

दर्शनावरण प्रमुख है। ज्ञानावरण की तरह इसे भी समझ लेना चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का पूर्ण क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन शक्ति प्रकट होती है, वह केवल दर्शन का धारक बनता है। जब उसका क्षयोपशम होता है तब चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन प्रकट होता है।

प्रस्तुत कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तमुंहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[११२]

वेदनीय कर्म :

आत्मा के अव्याबाध गुण को आवृत करने वाला कर्म वेदनीय है। वेदनीय कर्म से आत्मा को सुख दु:ख का अनुभव होता है। उसके दो भेद है—(१) साता वेदनीय, (२) असाता वेदनीय।[११३] साता वेदनीय कर्म से जीव को भौतिक सुखों की उपलब्धि होती है। और असाता वेदनीय कर्म से मानसिक और शारीरिक दुःख प्राप्त होता है।[११४]

वेदनीय कर्म की तुलना मधु से लिप्त तलवार की धार से की गई है। तलवार की धार पर लिप्त मधु को चाटने के

---

११२. उत्तराध्ययन ३३।१९–२०
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ८।१५
(ग) पचम कर्मग्रन्थ गा० २६
(घ) प्रज्ञापना, पद २६ उ० २, सू० २९३

११३. वेयणीयं पि दुविह सायमसायं च आहियं।
—उत्तराध्ययन ३३।७
(ख) स्थानाङ्ग २।१०५

११४. यदुदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद् वेद्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति। यत्फल दुःखमनेकविध तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति।
—तत्त्वार्थ ८।८, सर्वार्थसिद्धि

सदृश साता वेदनीय है और जीभ कट जाने के समान असाता वेदनीय है।[११५]

सात वेदनीय कर्म आठ प्रकार का है—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, सुखित मन, सुखित वाणी, सुखित काय जिससे प्राप्त हो[११६]।

असात वेदनीय भी आठ प्रकार का है—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ गन्ध, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ स्पर्श, दुःखित मन, दुःखित वाणी, दुःखित काय की प्राप्ति जिससे हो।[११७]

<u>वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति उत्तराध्ययन[११८] और प्रज्ञापना[११९]</u>

---

११५ महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं।

—प्रथम कर्मग्रन्थ, १२

(ख) तथा वचने—अनुभूयत इति वेदनीयं, सातं सुखं तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तया, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, इतरत्—एतद्विपरीतम् आह च—

महुलित्तनिसियकरवालधारं जीहाए जारिसं लिहणं,
तारिसयं सुहदुहउप्पायगं मुणह ॥

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

११६ स्थानाङ्ग ८।४८८

(ख) प्रज्ञापना २३।३

११७ स्थानाङ्ग ८।४८८

(ग) असायावेदणिज्जे णं भंते कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविधे पण्णत्ते, तं जहा-अमणुण्णा सद्दा, जाव कायदुहया।

—प्रज्ञापना २३।३।१५

११८ उदही सरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥

—उत्तरा० ३३।१९-२०

११९ प्रज्ञापना २३।२।२१-२९

मे अन्तर्मुहूर्त की बताई है। भगवती[१२०] मे दो समय की कही गई है। इन दोनों कथनों मे कोई विरोध नही समझना चाहिए, क्योंकि मुहूर्त के अन्दर का समय अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तर्मुहूर्त कहने मे कोई विसंगति नही है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र[१२१], और अन्य अनेक ग्रन्थों मे बारह मुहूर्त की प्रतिपादित की गई है। उत्कृष्ट स्थिति सर्वत्र तीस कोटाकोटि सागर की है।

मोहनीय कर्म :

जो कर्म आत्मा मे मूढता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ कर्मो मे यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। अन्य सात कर्म प्रजा है तो मोहनीय कर्म राजा है।[१२२] यह आत्मा के वीतराग भाव—शुद्ध-स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारो से ग्रस्त होता है। यह कर्म स्व-परविवेक में तथा स्वरूपरमण मे बाधा समुपस्थित करता है।

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे मदिरापान से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नही रहता, वह हिताहित के विवेक से विहीन हो जाता है,

---

१२०. वेदणिज्जं जह दो समया।

—भगवती ६।३

१२१. अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१६

(ख) वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादशमुहूर्ता स्थितिरिति।

—तत्त्वार्थ भाष्य

(ग) जहन्ना ठिई वेअणीअस्स बारस मुहुत्ता।

नवतत्व साहित्य सग्रह : देवानन्द सूरिकृत, सप्ततत्त्वप्रकरण

(घ) जैनदर्शन पृ० ३५४ डा० मोहनलाल मेहता

१२२. अष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन।

— विनयचन्द चौबीसी

वैसे ही मोह कम के उदय से जीव को तत्त्व अतत्त्व का भेद विज्ञान नही हो पाता, वह ससार के विकारो म उलझ जाता है।[123]

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होना है—(१) दशन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय।[124] यहा दर्शन का अथ तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप आत्मगुण है।[125] जैसे मदिरापान से बुद्धि मूच्छित हो जाती है वैसे ही दशन मोहनीय कम के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता है। वह अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय समझता है।[126] वह धम को अधर्म और अधम को धर्म मानता है।

दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है[127]—(१) सम्यकत्व

---

१२३ मज्ज व माहणीय—

—प्रथम कमग्रन्थ, गाथा १३

(ख) जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ,
तह मोहेण विमूढो जीवो उ परव्वसो होइ।

—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ग) गोम्मटसार (कमकाण्ड) २१

१२४ मोहणिज्ज पि दुविह दसणे चरणे तहा।

—उत्तराध्ययन ३३ ८

(ख) ठाणाङ्ग २।४।१०५

(ग) प्रज्ञापना २३।२

१२५ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दशनम्

—तत्त्वार्थ सूत्र १।२

१२६ यथा मद्यादिपानस्य, पाकाद् बुद्धिविमुह्यति।
श्वेत शखादि यद्वस्तु, पीत पश्यति विभ्रमात्।
तथा दशनमाहस्य, कमणस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीय मनुते कुदृक्॥

—पचाध्यायी २।९८–६–७

१२७ सम्मत्त चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दसणे॥

—उत्तराध्ययन ३३।९

(ख) स्थानाङ्ग २।१९४

मोहनीय—जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नही रोक सकता किन्तु औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नही होने देता। (२) मिथ्यात्व मोहनीय—जो कर्म तत्त्व मे श्रद्धा उत्पन्न नही होने देता, और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है। (३) मिश्र मोहनीय—जो कर्म तत्त्व श्रद्धा मे दोलायमान स्थिति उत्पन्न करता है। दर्शनमोहनीय के शुद्ध दलिक सम्यक्त्व मोहनीय, अशुद्ध दलिक मिथ्यात्व मोहनीय और शुद्धाशुद्ध दलिक सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय है।[१२८] इनमे मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती है और शेष दो देशघाती है।[१२९]

मोहनीय कर्म का द्वितीय भेद चारित्रमोह है। यह कर्म आत्मा के चारित्र गुण को उत्पन्न नही होने देता।[१३०]

चारित्र मोहनीय के भी दो भेद है—(१) कषाय मोहनीय (२) नोकषाय मोहनीय।[१३१] कषाय मोहनीय के सोलह भेद है और नो-कषाय मोहनीय के सात अथवा नौ भेद है।[१३२]

---

१२८. प्रथम कर्म ग्रन्थ, गा० १४–१६

१२९. केवलणाणावरण, दसणछक्क कषायवारसयं।
मिच्छ च सव्वघादी, सम्मामिच्छं अवंधम्हि॥
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९

(ख) केवलणाणावरणं दसणछक्कं च मोहवारसगं।
ता सव्वधाइसन्ना भवति मिच्छत्तवीसइम।
—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका मे उद्धृत

१३०. एवं जीवस्य चारित्र गुणोऽस्त्येक. प्रमाणसात्।
तन्मोहयति यत्कर्म, तत्स्याच्चारित्रमोहनम्॥
—पंचाध्यायी २।१।६

१३१. चरित्तमोहण कम्म, दुविह त वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु नोकसाय तहेव य॥
—उत्तराध्ययन ३३।१०

(ख) प्रज्ञापना २३।२

१३२. सोलसविहभेएण, कम्मं तु कसायज।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्म च नोकसायजं॥
—उत्तरा० ३३।११

कषाय मोहनीय

कषाय शब्द कष और आय से बना है। कष—संसार आय—लाभ, जिससे संसार अर्थात् भवभ्रमण की अभिवृद्धि हो वह कषाय है।[133] क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में वह चार प्रकार का है। ये चार भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, यों चार चार प्रकार के हैं। इस प्रकार सोलह भेद कषायमोहनीय के हैं। इसके उदय से प्राणी में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का विघातक है।[134]

अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क के प्रभाव से देशविरति रूप श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती।[135] प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के

(ख) प्रज्ञापना २३।२

(ग) स्थानाङ्ग ६।७००,

(घ) समवायाग—१६

१३३ कम्म कसो भवो वा, कसमातो सि कसाया ता।
कसमाययंति व जतो गमयंति कसं कसायत्ति ॥
—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति प० ११६
—विशेषावश्यक भाष्य गा० १२२७

१३४ (क) अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति।
—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१० भाष्य

(ख) अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये।
ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्या क्रोधाद्येषु नियोजिता ॥

१३५ स्वल्पमपि नोत्सहेद् येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात्।
अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ॥
(ख) अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति—
—तत्त्वार्थ भाष्य ८।१०

उदय से सर्वविरति रूप श्रमणधर्म की प्राप्ति नहीं होती।[१३६] सज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात चारित्ररूप उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त नहीं कर सकता।[१३७] गोम्मटसार में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[१३८]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी चतुष्क की एक वर्ष की, प्रत्याख्यानी कषाय की चार माह की और संज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[१३९]

जिनका उदय कषायों के साथ होता है या जो कषायों को उत्तेजित करते हैं वे नोकषाय हैं।[१४०] इन्हें अकषाय भी कहते हैं।[१४१] नोकषाय या अकषाय का तात्पर्य कषाय का अभाव नहीं, किन्तु ईषत्कषाय है।[१४२] नोकषाय के नौ भेद है—(१) हास्य, (२) रति,

---

१३६. सर्वसावद्यविरति · प्रत्याख्यानमुदाहृतम् ।
तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

(ख) प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्र लाभस्तु न भवति ।

तत्त्वार्थ सूत्र ८।१० भाष्य

१३७ (क) संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति ।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१० भाष्य

१३८. सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादति वा कषाया चउ सोल असंखलोगमिदा ॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड २८३

१३९. जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनर अमरा,
सम्माणुसव्वविरई अहखायचरित्तघायकरा ।

प्रथम कर्मग्रन्थ गा० १८

१४०. कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता ॥

१४१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८।९।१०

१४२. ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति ।

—सर्वार्थसिद्धि ८।९

(३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा[143], (७) स्त्री वेद, (८) पुरुष वेद (९) नपुंसक वेद।

इस प्रकार चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों में से संज्वलन कषाय चतुष्क और नोकषाय ये अघाती हैं और शेष बारह प्रकृति सर्वघाती हैं।[144]

मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागर की है।[145]

आयुष्कर्म

जीवों के जीवन अवधि का नियामक कर्म आयुष्य है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु का आलिंगन करता है।[146]

इस कर्म की तुलना कारागृह से की गई है। जैसे न्यायाधीश अपराधी को अपराध के अनुसार नियत समय तक कारागृह में डाल देता है, अपराधी के चाहने पर भी अवधि के पूर्ण हुए बिना वह मुक्त नहीं हो सकता। वैसे ही आयुष्कर्म के कारण जीव देह से मुक्त नहीं हो सकता।[147]

---

१४३ यदुदयादात्मदोषसंवरणं परदोषाविष्करणं सा जुगुप्सा।
—आचार्य पूज्यपाद

१४४ स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका
(ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३६

१४५ (क) उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥
—उत्तरा ३३।२१
(ख) सप्ततिर्मोहनीयस्य। —तत्त्वार्थ ८।१६

१४६ यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायु ॥२॥ यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक—८।१०।२
(ख) प्रज्ञापना २३।१

१४७ पडपडिहारसिमज्जाहडचित्तकुलालभंडगारीणं।
जह एएसिं भावा कम्माण वि जाण तह भावा॥
—मध्यस्थ साहित्य संग्रह। प्रव० कृष्णादिगमेनं, मधुरा प्रकरणम् ७४

आयुष् कर्म का कार्य सुख दुःख देना नहीं, किन्तु नियत अवधि तक किसी एक भव मे रोके रखना है।[१४८]

आयु कर्म की चार उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु।[१४९] आयु दो रूपों में उपलब्ध होती है। अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तों से आयु का कम होना अपवर्तन है। किसी भी कारण से आयु का कम न होना अनपवर्तन है।[१५०] मगर आयु कम हो जाने का अभिप्राय यह नही कि आयु कर्म का कुछ भाग बिना भोगे ही नष्ट हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि आयु कर्म के जो प्रदेश धीरे-धीरे बहुत समय मे भोगे जाने वाले थे, वे सब अल्पकाल मे—अन्तर्मुहूर्त में ही भोग लिये जाते हैं। लोकव्यवहार मे इसी को अकाल मृत्यु कहते हैं।

(ख) जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हडिव्व णरं।

—गोम्मटसार-कर्मकाण्ड ११

(ग) सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं।

—प्रथम कर्म ग्रन्थ २३

१४८. दुक्खं न देइ आउं नवि य सुहं देइ चउसुवि गईसु।
दुक्खसुहाणाहारं धरेइ देहट्ठियं जीयं॥

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

१४९ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।११

(ख) गोयमा ! आउयस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउविहे अणुभावे पन्नत्ते— तं जहा-नेरइयाउते, तिरियाउते, मणुयाउते, देवाउए।

—प्रज्ञापना २३।१

(ग) नेरइयतिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु, आउं कम्मं चउव्विहं॥

—उत्तराध्ययन ३३।१२

१५०. तत्त्वार्थ सूत्र २।५२, पं० सुखलाल जी का विवेचन
पृ० ११२–११६ तक।

आयु कर्म की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।[151] भगवती मे उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त तेतीस सागरोपम वर्ष कही है।[152]

नाम कर्म

जिस कर्म से जीव गति आदि पर्यायो के अनुभव करने के लिए बाध्य हो वह नाम कर्म है।[153] अथवा जिस कर्म से जीव में गति आदि के भेद उत्पन्न हो, देहादि की भिन्नता का कारण हो अथवा जिससे गत्यन्तर जैसे परिणमन हो, वह नाम कर्म है।[154]

प्रस्तुत कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार एक चतुर चित्रकार अपनी कल्पना से मानव, पशु, पक्षी, आदि नाना प्रकार के चित्र चित्रित करता है, ऐसे ही नामकर्म भी नारक, तिर्यञ्च, मानव और देवो के शरीर आदि की रचना करता है। इस प्रकार यह कर्म शरीर, अङ्गोपाङ्ग, इन्द्रिय, आकृति, शरीरगठन, यश, अपयश आदि का निर्माता है।[155]

---

१५१ तेत्तीस सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिइ उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

—उत्तराध्ययन ३३।२२

१५२ आउग उक्को, तेत्तीस सायरोवमाणि पुव्वकोडितिभागब्भहियाणि।

—भगवती ६।३

१५३ नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवन प्रति प्रवयणति जीवमिति नाम।

प्रज्ञापना २३।१।२८८, टीका

(ख) विचित्रपर्यायैर्नमयति–परिणमयति यज्जीव तन्नाम।

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

१५४ गदिआदि जीवभेद देहादी पोग्गलाण भेद च।
गदियतरपरिणमन करेदि णाम अणेयविह॥

—गोम्मटसार-कर्मकाड १२

१५५ जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइ कुणइ रूवाइ।
सोहणमसोहणाइ, चोक्खमचोक्खेहि वण्णेहि॥

नाम कर्म के भी मुख्य दो भेद हैं—शुभ और अशुभ।[१५६] अशुभ नाम पापरूप है और शुभ नाम पुण्यरूप है।

नाम कर्म की मध्यम रूप से बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ भी होती है।[१५७] वे इस प्रकार हैं :—

(१) गतिनाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता का निमित्त कर्म। इसके चार उपभेद हैं—(क) नरक गतिनाम, (ख) तिर्यञ्च गतिनाम, (ग) मनुष्य गतिनाम (घ) देवगति नाम।

(२) जातिनाम—एकेन्द्रियत्व से लेकर पंचेन्द्रियत्व तक का अनुभव कराने वाला कर्म। इसके पांच उपभेद है—(क) एकेन्द्रिय जातिनाम, (ख) द्वीन्द्रिय जातिनाम, (ग) त्रीन्द्रिय जातिनाम, (घ) चतुरिन्द्रिय जातिनाम, (ङ) पंचेन्द्रिय जाति नाम।

(३) शरीर नाम—औदारिक आदि शरीर का निर्माण करने वाला कर्म। इसके पांच उपभेद है। (क) औदारिक शरीरनाम, (ख) वैक्रिय शरीरनाम, (ग) आहारक शरीरनाम, (घ) तैजस शरीर नाम, (ङ) कार्मण शरीरनाम।

तह नामंपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स॥

—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ख) नवतत्त्व साहित्य संग्रह, अवचूर्णि वृत्यादिसमेत।
नवतत्त्व प्रकरणम् ७४

१५६. नामं कम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं।

—उत्तरा० ३३।१३

१५७. (क) समवायाङ्ग, सम० ४२,
(ख) प्रज्ञापना २३।२।२९३
(ग) गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१२

(४) शरीर अगोपाङ्ग नाम—शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवो का निमित्तभूत कर्म। इसके तीन उपभेद है—(क) औदारिक शरीर अगोपाङ्ग नाम। (ख) वैक्रिय शरीर अगोपाङ्ग नाम, (ग) आहारक शरीर अगोपाङ्ग नाम। तैजस् और कार्मणशरीर के अवयव नही होते।

(५) शरीरबन्धन नाम—पूर्व मे ग्रहण किये हुए और वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले शरीरपुद्गलो के परस्पर सम्बन्ध का निमित्तभूत कर्म। इसके पाँच उपभेद हैं—(क) औदारिक शरीर बन्धन नाम, (ख) वैक्रियशरीर बन्धननाम, (ग) आहारक शरीर बन्धन नाम, (घ) तैजसशरीर बन्धन नाम, (ङ) कार्मण शरीर बन्धन नाम।

शरीर बन्धन नाम कर्म के कर्मग्रन्थ मे विस्तार की विवक्षा से पन्द्रह भेद भी किये हैं —

(१) औदारिक—औदारिक बन्धन नाम।
(२) औदारिक—तैजस बन्धन नाम।
(३) औदारिक—कार्मणबन्धननाम।
(४) वैक्रिय—वैक्रियबन्धननाम।
(५) वैक्रिय—तैजसबन्धननाम।
(६) वैक्रिय—कार्मणबन्धननाम।
(७) आहारक—आहारकबन्धननाम।
(८) आहारक—तैजसबन्धननाम।
(९) आहारक—कार्मणबन्धननाम।
(१०) औदारिक—तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय-तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(१२) आहारक—तैजसकार्मण बन्धन नाम।
(१३) तैजस—तैजस बन्धन नाम।
(१४) तैजस—कार्मणबन्धननाम।
(१५) कार्मण—कार्मणबन्धन नाम।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीनों के पुद्गलों का परस्पर बन्ध नहीं होता, अतएव यहाँ उनके बन्धन की गणना नहीं की गई है।

(६) शरीर संघातन नाम—शरीर के द्वारा पूर्वगृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था करने वाला कर्म। इसके भी पाँच उपभेद हैं- (क) औदारिक शरीर संघातन नाम, (ख) वैक्रिय शरीर संघातन नाम, (ग) आहारक शरीर संघातन नाम, (घ) तैजस शरीर संघातन नाम, (ङ) कार्मण शरीर संघातन नाम।

(७) संहनन नाम—जिसके उदय से अस्थिबन्ध की विशिष्ट रचना हो। इसके छः उपभेद है—(क) वज्रऋषभनाराच संहनन नाम, (ख) ऋषभनाराच संहनन नाम, (ग) नाराच-संहनन नाम, (घ) अर्धनाराच सहनन नाम (ङ) कीलिका-संहनन नाम (च) सेवार्त संहनन नाम।

(८) संस्थान नाम—शरीर की विविध आकृतियों का जिसके उदय से निर्माण हो। इसके भी छः उपभेद हैं—(१) समचतुरस्र संस्थान, (२) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, (३) सादिसंस्थान नाम, (४) वामन सस्थान नाम, (५) कुब्ज संस्थान नाम, (६) हुण्ड संस्थान नाम।

(९) वर्णनाम—इस कर्म के उदय से शरीर मे रंग का निर्माण होता है। इसके भी पाँच उपभेद है—(क) कृष्णवर्ण नाम, (ख) नील-वर्ण नाम, (ग) लोहितवर्ण नाम, (घ) हारिद्रवर्ण नाम (ङ) श्वेतवर्ण नाम।

(१०) गन्ध नाम—इस कर्म के उदय से शरीर के गन्ध पर प्रभाव पड़ता है। इसके दो उपभेद है—(क) सुरभि-गन्ध नाम, (ख) दुरभि-गन्ध नाम।

(११) रसनाम—इस कर्म के उदय से शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है। इसके पाँच उपभेद हैं—(क) तिक्त-रस नाम, (ख) कटु रस नाम (ग) कषाय-रस नाम, (घ) आम्ल-रस नाम, (ङ) मधुर-रस नाम।

(१२) स्पर्श नाम—इस कु कर्म उदय से शरीर के स्पर्श पर

प्रभाव पड़ता है। इसके आठ उपभेद हैं—(क) कर्कश स्पर्श नाम, (ख) मृदु स्पर्श नाम, (ग) गुरु स्पर्श नाम, (घ) लघु स्पर्श नाम, (ङ) स्निग्ध स्पर्श नाम, (च) रूक्ष स्पर्श नाम, (छ) शीत स्पर्श नाम, (ज) उष्ण स्पर्श नाम।

(१३) अगुरुलघुनाम—जिसके उदय से शरीर अत्यन्त गुरु या अत्यन्त लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु रूप में परिणत होता है।

(१४) उपघात नाम—इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से क्लेश पाता है। जैसे प्रतिजिह्वा, चोरदन्त, रसौली आदि।

(१५) पराघात नाम—इस कर्म के उदय से जीव अपने दर्शन और वाणी से ही प्रतिपक्षी और प्रतिवादी को पराजित कर देता है।

(१६) आनुपूर्वी नाम—जन्मान्तर के लिए जाते हुए जीव को आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार नियत स्थान तक गमन कराने वाला कर्म। इसके भी चार उपभेद हैं—(क) नरक आनुपूर्वीनाम, (ख) तिर्यंच-आनुपूर्वी नाम, (ग) मनुष्य आनुपूर्वी नाम, (घ) देव आनुपूर्वी नाम।

(१७) उच्छ्वास नाम—इसके उदय से जीव श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है।

(१८) आतप नाम—इस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है।[१८९]

(१९) उद्योत नाम—इसके उदय से शरीर शीतप्रकाशमय होता है।[१९०]

(२०) विहायोगति नाम—इसके उदय से प्रशस्त और अप्रशस्त गति होती है। इसके भी दो उपभेद हैं—(क) प्रशस्त

---

१८९ प्रस्तुत कर्म का उदय सूर्य मण्डल के एकेन्द्रिय जीवों में होता है। उनका शरीर शीत होता है पर प्रकाश उष्ण होता है।

१९० देव के उत्तर वैक्रिय शरीर में से, व लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर से तथा चांद, नक्षत्र, तारागण से निकलने वाला शीतप्रकाश।

विहायोगति नाम, (ख) अप्रशस्त विहायोगति नाम। यहाँ गति का अर्थ चलना है।

(२१) त्रस नाम—जिस कर्म के उदय से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो।

(२२) स्थावर नाम—जिस कर्म के उदय से इच्छापूर्वक गति न होकर स्थिरता प्राप्त होती है।

(२३) सूक्ष्म नाम—जिस कर्म के उदय से जीव को चर्म चक्षुओं से अगोचर सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो।

(२४) बादर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव को चर्मचक्षु-गोचर स्थूल शरीर की उपलब्धि हो।

(२५) पर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करे।

(२६) अपर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके।

(२७) साधारण शरीर नाम—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही साधारण शरीर प्राप्त हो।

(२८) प्रत्येक शरीर नाम—जिस कर्म के उदय से जीवों को भिन्न-भिन्न शरीर की प्राप्ति हो।

(२९) स्थिर नाम—जिस कर्म के उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त हो।

(३०) अस्थिर नाम—जिस कर्म के उदय से जिह्वा आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हो।

(३१) शुभ नाम—जिस कार्म के उदय होने से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हो।

(३२) अशुभ नाम—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते है।

(३३) सुभग नाम—जिस कर्म के उदय से किसी भी प्रकार का उपकार न करने पर भी और सम्बन्ध न होने पर भी जीव सब के मन को प्रिय लगे।

(३४) दुर्भग नाम—जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर और सम्बन्ध होने पर भी अप्रिय लगे।

(३५) सुस्वर नाम—जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोता के हृदय मे प्रीति उत्पन्न करे।

(३६) दुःस्वर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारी हो।

(३७) आदेय नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन बहुमान्य हो।

(३८) अनादेय नाम—जिस कर्म के उदय से युक्तिपूर्ण वचन भी अमान्य हो।

(३९) यशःकीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से ससार मे यश और कीर्ति प्राप्त हो।

(४०) अयश कीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से अपयश और अपकीर्ति प्राप्त हो।

(४१) निर्माण नाम—जिस कर्म के उदय से शरीर के अग प्रत्यग व्यवस्थित हो।

(४२) तीर्थंकर नाम—जिस कर्म के उदय से धर्मतीर्थ की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त हो।

प्रज्ञापना[१६१] व गोम्मटसार[१६२] मे नाम कर्म के तिरानवे भेदो का कथन किया गया है और कर्मविपाक मे एक सौ तीन[१६३] भेदो का वर्णन है। अन्यत्र इक्हत्तर प्रकृतियो का उल्लेख है, जिनमे शुभ नाम कर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ मानी हैं[१६४] और अशुभनाम

---

१६१ प्रज्ञापना २३।२।२९३

१६२ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २२

१६३ कर्मविपाक प० सुखलाल जी हिन्दी अनुवाद पृ० ५८।१०५

१६४ सत्ततीस नामस्स पयई्ओ पुन्नमाहु (हु) ता य इमो।

—नवतत्त्वसाहित्य सग्रह नवतत्त्वप्रकरणम् ७ भाष्य ३७

कर्म की चौतीस[१६५] मानी है। भेदों की यह विविध संख्याएं संक्षेप विस्तार की दृष्टि से ही है। इनमे कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

नाम कर्म की अल्पतम स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति, वीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[१६६]

गोत्रकर्म :

जिस कर्म के उदय से जीव मे पूज्यता, अपूज्यता का भाव समुत्पन्न हो वह गोत्र कर्म है। दूसरे शब्दों मे कहा जाय तो जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्चावच कहलाता है वह गोत्रकर्म है।[१६७]

आचार्य उमास्वाति के शब्दो में—उच्चगोत्रकर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य प्रभृतिविषयक उत्कर्ष का कारण है, और इससे विपरीत नीचगोत्र कर्म चाण्डाल, नट, व्याध, पारिधि, मत्स्यवन्धक, दास आदि भावो का निर्वर्तक है।[१६८]

इस कर्म के मुख्य दो भेद है (१) उच्च गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदयसे प्राणी लोकप्रतिष्ठित कुल आदि मे जन्म ग्रहण करता है।

---

१६५ मोहछ्वीसा एसा, एसा पुण होई नाम चउतीसा।

—नवतत्त्वसाहित्य सग्रह : नवतत्त्व प्रकरण ८ भाष्य ४६

१६६. उदहीसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहन्निया॥

—उत्तरा० ३३।२३

(ख) नामगोत्रयोर्विंशतिः।
नामगोत्रयोरष्टौ॥

—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ८। १७–२०

१६७. यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयात् गोत्रं।

—प्रज्ञापना २३।१।२८८ टीका

१६८. उच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिवर्तकम्।
विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिक व्याधमत्स्यबंधदास्यादिनिर्वर्तकम्॥

तत्त्वार्थ सूत्र ८।१३ भाष्य

(२) नीचगोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म अप्रतिष्ठित एवं असंस्कारी कुल में होता है।[१६९]

उच्च गोत्र कर्म के भी आठ उपभेद हैं[१७०]—(क) जाति उच्च गोत्र, (ख) कुल उच्च गोत्र, (ग) बल उच्चगोत्र, (घ) रूप उच्चगोत्र, (ङ) तप उच्चगोत्र, (च) श्रुत उच्चगोत्र, (छ) लाभ उच्चगोत्र, (ज) (ज) ऐश्वर्य उच्चगोत्र। इनका अर्थ नाम से ही स्पष्ट है। ध्यान रखना चाहिए कि मातृपक्ष को जाति और पितृपक्ष को कुल कहा जाता है।

नीच गोत्र कर्म के भी आठ उपभेद हैं[१७१]—(क) जातिनीचगोत्र-मातृपक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण, (ख) कुलनीच गोत्र-पितृपक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण। (ग) बलनीच गोत्र—बल-विहीनता का कारण। (घ) रूपनीचगोत्र—रूपविहीनता का कारण (ङ) तप नीचगोत्र—तपविहीनता का कारण (च) श्रुत-नीचगोत्र—श्रुतविहीनता का कारण, (छ) लाभनीचगोत्र—लाभविहीनता का कारण, (ज) ऐश्वर्य नीचगोत्र—ऐश्वर्यविहीनता का कारण।

इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गई है। कुम्हार अनेक प्रकार के घडों का निर्माण करता है। उनमें से कितने ही घडे ऐसे होते हैं जिन्हें लोग कलश बनाकर अक्षत, चन्दन आदि से चर्चित करते है, और कितने ही ऐसे होते हैं जो मदिरा रखने के कार्य में आते है और इस कारण निम्न माने जाते हैं। उसी प्रकार जिस कर्म के कारण जीव का व्यक्तित्व श्लाघ्य एवं अश्लाघ्य बनता है[१७२] वह गोत्र कर्म कहलाता है।

---

१६९ गोय कम्म तु दुविहं, उच्च नीय च आहियं।

—उत्तराध्ययन ३३।१४

१७० उच्च अट्ठविह होइ, एव नीय पि आहियं।

—उत्तरा० ३३।१४

१७१ प्रज्ञापना—२३।१, २९२, २३।२।२९३

१७२ (क) जह कुम्भारो भडाइं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स।
इय गोयं कुणइ जियं, लोए पुज्जेयरावत्थं॥

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[१७३]

अन्तराय कर्म :

जिस कर्म के उदय से देने, लेने मे, तथा एकबार या अनेक वार भोगने और सामर्थ्य प्राप्त करने मे अवरोध उपस्थित हो वह अन्तराय कर्म है।[१७४]

इस कर्म की तुलना राजा के भंडारी से की गई है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश देने पर भी दान देने मे आनाकानी करता है, विघ्न डालता है, वैसे ही यह कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे बाधा उपस्थित करता है।[१७५]

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है—

(१) दान-अन्तराय कर्म—इस कर्म के उदय से जीव दान नही दे सकता।

(२) लाभ-अन्तराय कर्म—इस कर्म के उदय से उदार दाता की उपस्थिति में भी दान का लाभ प्राप्त नही हो सकता, अथवा पर्याप्त सामग्री के रहने पर भी जिसके कारण अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो।

(ख) गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभु भलाईयं।
—प्रथम कर्मग्रन्थ, ५२

१७३. उत्तराध्यन ३३।२३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र० अ० ८।१७–२०

१७४. अस्ति जीवस्य वीर्याख्योऽस्त्येकस्तदादिवत्।
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत्॥
—पंचाध्यायी २।१००७

१७५. जीवं चार्थसाधन चान्तरा एति-पततीत्यन्तरायम्। इदं चैवं-
जह राया दाणाइं ण कुणइ भंडारिए विकूलंमि।
एवं जेणं जीवो, कम्मं तं अन्तरायं ति।
—ठाणांग—२।४।१०५ टीका

(३) भोग अन्तराय कर्म—जो वस्तु एक बार भोगी जाय वह भोग है। जैसे खाद्य पेय आदि। इस कर्म के उदय से भोग्य पदार्थ सामने होने पर भी भोगे नही जा सकते। जैसे पेट की खराबी के कारण सरस भोजन तैयार होने पर भी खाया नही जा सकता।

(४) उपभोग अन्तराय कर्म—जो वस्तु बार बार भोगी जा सके वह उपभोग है। जैसे—भवन, वस्त्र, आभूषण आदि। इस कर्म के उदय से उपभोग्य पदार्थ होने पर भी भोगे नही जा सकते।

(५) वीर्य अन्तराय कर्म—जिसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जा सके और जिसके प्रभाव मे जीव के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम क्षीण होते हैं।

यह अन्तराय कर्म दो प्रकार का है —

(१) प्रत्युत्पन्नविनाशी अन्तराय कर्म—जिसके उदय से प्राप्त वस्तु का विनाश होता है।

(२) पिहित आगामिपथ अन्तराय कर्म—भविष्य मे प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति का अवरोधक।[१७६]

अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[१७७]

जैसे तूंबा स्वभावत जल की सतह पर तैरता है, उसी प्रकार जीव स्वभावत ऊर्ध्वगतिशील है, पर मृत्तिकालिप्त तूंबा जैसे जल मे नीचे जाता है, वैसे ही कर्मों से बद्ध आत्मा की अधोगति होती है। वह भी नीचे जाती है।[१७८]

कर्म बन्ध

पूर्व मे यह बताया जा चुका है कि इस संसार मे ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल न हो। प्राणी मानसिक, वाचिक

---

१७६ अन्तराइए कम्मे दुविहे पं० तं० पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहितआगामिपहं।

—स्थानाङ्ग २।४।१०५

१७७ उत्तराध्ययन ३३।१६

१७८ ज्ञाताधर्म

और कायिक प्रवृत्ति करता है और कपाय के उत्ताप से उत्तप्त होता है, अत. वह कर्मयोग्य पुद्गलों को सर्व दिशाओ से ग्रहण करता है। आगमो मे स्पष्ट निर्देश है कि एकेन्द्रिय जीव व्याघात न होने पर छहों दिशाओ से कर्म ग्रहण करते हैं, व्याघात होने पर कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच दिशाओ से ग्रहण करते है, किन्तु शेप जीव नियम से सर्व दिशाओं से पुद्गल ग्रहण करते है।[१७९] किन्तु क्षेत्र के सम्बन्ध मे यह मर्यादा है कि जिस क्षेत्र मे वह स्थित है उसी क्षेत्र मे स्थित कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। अन्यत्र स्थित पुद्गलों को नही।[१८०] यह भी विस्मरण नही होना चाहिये कि जितनी योगों को चंचलता मे तरतमता होगी उसी के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे जीव कर्म पुद्गलो को ग्रहण करेगा। योगो की प्रवृत्ति मन्द होगी तो परमाणुओं की सख्या भी कम होगो। आगमिक भापा मे इसे ही प्रदेश बंध कहते है। दूसरे शव्दो मे कहा जाय तो आत्मा के असख्यात प्रदेश होते है, उन असख्य प्रदेशों मे से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मप्रदेशो का वन्ध होना प्रदेश वन्ध है। अर्थात् जीव के प्रदेशो और कर्म पुद्गलो के प्रदेशो का परस्पर बद्ध होजाना प्रदेश वन्ध है।[१८१]

---

१७९. सव्वजीवाण कम्म तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण वद्धगं॥

—उत्तराध्ययन ३३।१८

(ख) भगवती शतक १७ उद्दे० ४

१८०. गेण्हति तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जहा कयब्भगो।
एगक्खेत्तोगाढ जीवो सव्वप्पएसेहिं॥

—विशेषावश्यक भाष्य गा० १९४१ पृ० ११७ द्वि० भा०

(ख) एगपएसोगाढ सव्वपएसेहि कम्मुणो जोगं।
वधइ जहुत्तहेउं साइयमणाइयं वावि॥

—पंचसंग्रह—२८४

१८१. प्रदेशा. कर्मपुद्गलाः जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता., तद्रूपं कर्म प्रदेश कर्म।

—भगवती १।४।४० वृत्ति

(ख) प्रदेशो दलसंचयः।

(ग) नतत्त्वसाहित्यसग्रह : अव० वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० ७१ की वृत्ति

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—भगवन्! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य—एक दूसरे से बद्ध, एक दूसरे से स्पृष्ट, एक दूसरे में अवगाढ, एक दूसरे में स्नेह प्रतिबद्ध हैं और एक दूसरे में एकमेक होकर रहते हैं?

उत्तर में महावीर ने कहा—हे गौतम, हाँ, रहते हैं।

हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते हैं?

हे गौतम! जैसे एक ह्रद हो, जल से पूर्ण, जल से किनारे तक भरा हुआ, जल से लबालब, जल से ऊपर उठा हुआ और भरे हुए घड़े की तरह स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस ह्रद में एक बड़ी, सौ आस्रव द्वार वाली, सौ छिद्र वाली नाव छोड़े तो हे गौतम! वह नाव उन आस्रव-द्वारों—छिद्रों द्वारा भरती भरती जल से पूर्ण ऊपर तक भरी हुई, बढ़ते हुए जल से ढंकी हुई होकर, भरे घड़े की तरह होगी या नहीं?

हे भगवन्! होगी।

हे गौतम! उसी हेतु से मैं कहता हूँ कि जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और स्नेह प्रतिबद्ध हैं और परस्पर एकमेक होकर रहते हैं।[१८२]

यही आत्म प्रदेशों और कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध प्रदेशबन्ध है।

योगों की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये गये कर्मपरमाणु ज्ञान को आवृत करना, दर्शन को आच्छन्न करना, सुख-दुःख का अनुभव कराना आदि विभिन्न प्रकृतियों के रूप में परिणत होते हैं। आत्मा के साथ बद्ध होने से पूर्व कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल एकरूप थे, बद्ध होने के साथ ही उनमें नाना प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। इसे आगम की भाषा में प्रकृति बन्ध कहते हैं।[१८३]

(घ) नवतत्त्वसाहित्य संग्रह देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ४

१८२ भगवती।१।६

१८३. प्रकृतिः स्वभावः प्रोक्तः।

प्रकृति वन्ध, और प्रदेश वन्ध ये दोनो योगों की प्रवृत्ति से होते है।[१८४] केवल योगो की प्रवृत्ति से जो वन्ध होता है वह सूखी दीवार पर हवा के झौंके के साथ आने वाली रेती के समान है। ग्यारहवें, वारहवे और तेरहवें गुण स्थान मे कषायाभाव के कारण कर्म का वन्धन इसी प्रकार का होता है। कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मवन्ध निर्वल, अस्थायी और नाममात्र का होता है, इससे संसार नही वढता।

योगो के साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है उससे अमुक समय तक आत्मा से पृथक् न होने की कालिक मर्यादा पुद्गलों मे निर्मित होती है। यह काल मर्यादा ही आगम की भाषा मे स्थिति वन्ध है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्मा के द्वारा ग्रहण की गई ज्ञानावरण आदि कर्म पुद्गलों की राशि कितने काल तक आत्म-प्रदेशों मे रहेगी, उसकी मर्यादास्थि तिवन्ध है।[१८५]

जीव के द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मो की प्रकृतियों का तीव्र मन्द आदि विपाक अनुभागवन्ध है। कर्म के शुभ या अशुभ फल की तीव्रता या मन्दता रस है। उदय मे आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मन्द कैसा होगा, यह प्रकृतिप्रभृति की तरह कर्मवन्ध के समय ही नियत हो जाता है। इसे अनुभागवन्ध कहते है।[१८६]

जिन कर्मो का आत्मा ने वन्ध कर लिया है वे अवश्य ही उदय मे आते है, और जव उदय मे आते है तव उनका फल भोगना पड़ता

---

१८४. जोगा पयडिपएस।

—पंचम कर्मग्रन्थ, गा० ९६

(ख) ठाणाङ्ग २।४।९६ टीका

१८५. स्थिति : कालावधारणम्।

१८६. अनुभाग. तेपामेव कर्मप्रदेशाना· सवेद्यमानताविषयो रसः तद्रूप-कर्मोऽनुभाग-कर्म।

—भगवती १।४।४० वृत्ति

(ख) अनुभागो रसो ज्ञेयः।

(ग) विपाकोऽनुभाव.।

—तत्त्वार्थ० ८।२२

है। किन्तु अनुकूल निमित्त कारण न हो तो बहुत-से कर्म—प्रदेशों से ही उदय में आकर—फल दिये बिना ही पृथक् हो जाते हैं। जब तक फल देने का समय नहीं आता तब तक बद्ध कर्मों के फल की अनुभूति नहीं होती। कर्मों के उदय में आने पर ही उनके फल का अनुभव होता है। बन्ध और उदय के बीच का काल अबाधा काल कहलाता है। बँधे हुए कर्म यदि शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक सुखमय होता है। बँधे हुए कर्म यदि अशुभ होते हैं तो उदय में आने पर उन कर्मों का विपाक दुःखमय होता है।

उदय में आने पर कर्म अपनी मूलप्रकृति के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है, दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को आवृत करता है। इसी प्रकार अन्य कर्म भी अपनी प्रकृति के अनुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करते हैं। उनकी मूल प्रकृति में उलट फेर नहीं होता।

पर उत्तर प्रकृतियों के सम्बन्ध में यह नियम पूर्णतः लागू नहीं होता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृति के रूप में परिवर्तित हो सकती है। जैसे मतिज्ञानावरण कर्म श्रुतज्ञानावरण कर्म के रूप में परिणत हो सकता है। फिर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरण के रूप में ही होगा। किन्तु उत्तर प्रकृतियों में भी कितनी ही प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमण नहीं करतीं, जैसे दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय के रूप में और चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय के रूप में संक्रमण नहीं करता। इसी प्रकार सम्यक्त्व वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी संक्रमण नहीं होता। आयुष्य की उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता। जैसे नारक आयुष्य तिर्यंच आयुष्य के रूप में या अन्य आयुष्य के रूप में नहीं बदल सकता। इसी प्रकार अन्य आयुष्य भी।[१८७]

---

१८७ उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो

प्रकृति-संक्रमण की तरह बन्धकालीन रस में भी परिवर्तन हो सकता है। मन्द रस वाला कर्म, बाद मे तीव्र रस वाले कर्म के रूप में बदल सकता है और तीव्र रस, मन्द रस के रूप में हो सकता है।

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—भगवन् ! अन्य यूथिक इस प्रकार कहते है कि 'सब जीव एवंभूत-वेदना (जैसा कर्म बांधा है वैसे ही) भोगते है—यह किस प्रकार है? महावीर ने कहा—गौतम ! अन्य यूथिक जो इस प्रकार कहते हैं वह मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूँ—कि कई जीव एवं भूत वेदना भोगते है और कई अन्-एवभूत वेदना भी भोगते है। जो जीव किये हुए कर्मो के अनुसार ही वेदना भोगते है वे एवंभूत वेदना भोगते है और जो जीव किए हुए कर्मो से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवंभूत वेदना भोगते है।[१८८]

स्थानाङ्ग मे चतुर्भङ्गी है—(१) एक कर्म शुभ है और उसका विपाक भी शुभ है, (२) एक कर्म शुभ है किन्तु विपाक अशुभ है, (३) एक कर्म अशुभ है पर उसका विपाक शुभ है, (४) एक कर्म अशुभ है और उसका विपाक भी अशुभ है।[१८९]

विद्यते,........उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च........

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।२२ भाष्य

(ख) अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतिनां स्वमुखेनैवानुभव.। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति। आयुदर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन।

—तत्त्वार्थ : ८।२२ सर्वार्थ सिद्धि

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र० प० सुखलाल जी हिन्दी द्वि० सं० पृ० २९३

मोत्तूणं आउय खलु, दंसणमोह चरित्तमोहं च।
सेसाणं पयडीणं, उत्तरविहिसंकमो भज्जो।

—विशेषावश्यक भाष्य-गा० १९३८

१८८. भगवती ५।५

१८९. स्थानाङ्ग ४.४।३१२

जिज्ञासा हो सकती है कि इसका मूल कारण क्या है ? जैन कर्म-साहित्य समाधान करता है कि कर्म की विभिन्न अवस्थाएं हैं। मुख्य रूप से उन्हें ग्यारह भेदों में विभक्त कर सकते हैं[190]—(१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वर्तन उत्कर्ष, (४) अपवर्तन अपकर्ष, (५) संक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचित और (११) अबाधा-काल।

(१) बन्ध—आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का सम्बन्ध होना, क्षीर-नीरवत् एकमेक हो जाना बन्ध है।[191] बन्ध के चार प्रकार हैं। इनका वर्णन पूर्व किया जा चुका है।

स्थानाङ्ग की तरह बौद्ध साहित्य में उल्लेख है —

(१) कितने ही कर्म ऐसे होते हैं जो कृष्ण होते हैं और कृष्ण विपाकी होते हैं।

(२) कितने ही कर्म ऐसे होते हैं जो शुक्ल होते हैं और शुक्ल विपाकी होते हैं।

(३) कितने ही कर्म कृष्ण—शुक्ल मिश्र होते हैं और वैसे ही विपाक वाले होते हैं।

(४) कितने ही कर्म अकृष्ण शुक्ल होते हैं और अकृष्ण शुक्ल विपाकी होते हैं।

—अंगुत्तर निकाय ४।२३२–२३३

१९० द्रव्य संग्रह टीका गा० ३३

(ख) आत्म मीमांसा—पं० दलसुख मालवणिया पृ० १२८

(ग) जैन दर्शन

(घ) श्री अमर भारती वर्ष १

१९१ आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः।

—तत्त्वार्थ सूत्र १।४ सर्वार्थ सिद्धि

(ख) बन्धन—जीवकर्मणोः संश्लेषः

—उत्तराध्ययन २८।१४ नेमिचन्द्रीय टीका

(ग) बधनं बन्धः सकषायत्वात् जीवः कर्मणो-योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते यः स बन्ध इति भावः।

—स्थानाङ्ग १।४।९ टीका

(२) सत्ता—आवद्ध कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से पृथक् नही हो जाते तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं, इसे जैन दार्शनिकों ने सत्ता कहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वन्ध होने और फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते हैं, वह सत्ता है। उस समय कर्मों का अस्तित्व रहता है, पर वे फल प्रदान नही करते।

(३) उद्वर्तन-उत्कर्ष—आत्मा के साथ आवद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग वन्ध तत्कालीन परिणामो मे प्रवहमान कषाय की तीव्र एवं मन्दधारा के अनुरूप होता है। उसके पश्चात् की स्थिति-विशेष अथवा भाव विशेष के कारण उस स्थिति एवं रस में वृद्धि होना उद्वर्तन-उत्कर्ष है।

(४) अपवर्तन-अपकर्ष—पूर्व वद्ध कर्म की स्थिति एवं अनुभाग को कालान्तर मे नूतन कर्म-वन्ध करते समय न्यून कर देना अपवर्तन—अपकर्ष है। इस प्रकार उद्वर्तन-उत्कर्ष से विपरीत अपवर्तन-अपकर्ष है।

उद्वर्तन और अपवर्तन की प्रस्तुत विचारधारा यह प्रतिपादित करती है कि आवद्ध कर्म की स्थिति और इसका अनुभाग एकान्ततः

(घ) सकषायतया जीव. कर्मयोग्यास्तु पुद्गलान्।
यदादत्ते स वन्ध. स्याज्जीवास्वातन्त्र्यकारणम्॥
— नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः, सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १३३

(ङ) वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भाववन्धो सो,
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो।
—द्रव्यसंग्रह—२।३२, नेमिचन्द्र सि० चक्रवर्ती

(च) द्रव्यतो वन्धो निगडादिभिर्भावतः कर्म्मणा।
—ठाणाङ्ग १।४।६ टीका

(छ) ननु वन्धो जीवकर्म्मणोः संयोगोऽभिप्रेतः

(ज) मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मन. क्षीरनीरवद्वन्ह्यय.पिण्डवद्वान्योन्यानुगमाभेदात्मकः सम्वन्धो वंध.।
—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गाथा ७१ की प्राकृत अवचूर्णि

नियत नही है, उसमे अध्यवसायो की प्रबलता से परिवर्तन भी हो सकता है। कभी कभी ऐसा होता है कि प्राणी अशुभ कर्म का बंध करके शुभ कार्य मे प्रवृत्त हो जाता है। उसका असर पूर्व बद्ध अशुभ कर्मों पर पडता है जिससे उस लम्बी कालमर्यादा और विपाक शक्ति मे न्यूनता हो जाती है। इसी प्रकार पूर्व मे श्रेष्ठ कार्य करके पश्चात् निकृष्ठ कार्य करने से पूर्वबद्ध पुण्य कर्म की स्थिति एव अनुभाग मे मन्दता आ जाती है। साराश यह है कि ससार को घटाने-बढाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायो पर विशेष आधृत है।

✓ (५) सक्रमण—एक प्रकार के कर्म परमाणुओ की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्म परमाणुओ की स्थिति आदि के रूप मे परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को सक्रमण कहते है। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कुछ निश्चित मर्यादाएँ हैं, जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। सक्रमण के चार प्रकार है—(१) प्रकृति-सक्रमण, (२) स्थिति-सक्रमण, (३) अनुभाव-सक्रमण, (४) प्रदेश सक्रमण।[१९२]

(५) उदय—कर्म का फलदान उदय है। यदि कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाय तो फलोदय है और फल को दिये बिना ही नष्ट हो जाय तो प्रदेशोदय है।

(७) उदीरणा—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा है। जैसे समय के पूर्व ही प्रयत्न से आम आदि फल पकाये जाते हैं वैसे ही साधना से आबद्ध कर्म का नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है। सामान्यत यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

(८) उपशमन—कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय मे आने के लिए उन्हे अक्षम बना देना उपशम है। अर्थात् कर्म की वह अवस्था जिसमे उदय अथवा उदीरणा सभव नही किन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन, और सक्रमण की सभावना हो वह उपशमन है। जैसे अगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना जिससे वह अपना कार्य न कर

---

१९२ स्थानाङ्ग ४।२१६

सके। वैसे ही उपशमन-क्रिया से कर्म को इस प्रकार दबा देना जिससे वह अपना फल नही दे सके। किन्तु जैसे आवरण के हटते ही अंगारे जलाने लगते हैं, वैसे ही उपशम भाव के दूर होते ही उपशान्त कर्म उदय में आकर अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

(९) निधत्ति—जिसमे कर्मों का उदय और संक्रमण न हो सके किन्तु उद्वर्तन-अपवर्तन की संभावना हो वह निधत्ति है।[193] यह भी चार प्रकार[194] का है। (१) प्रकृति निधत्त (२) स्थिति निधत्त (३) अनुभाव निधत्त (४) प्रदेश निधत्त।

(१०) निकाचित्त—जिसमे उद्वर्तन,-अपवर्तन संक्रमण एव उदीरणा इन चारों अवस्थाओ का अभाव हो वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा ने जिस रूप में कर्म बांधा है प्रायः उसी रूप में भोगे विना उसकी निर्जरा नही होती। वह भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश रूप मे चार प्रकार का है।[195]

(११) अबाधाकाल—कर्म बंधने के पश्चात् अमुक समय तक किसी प्रकार फल न देने की अवस्था का नाम अबाध-अवस्था है। अबाधा-काल को जानने का प्रकार यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने-सागरोपम की है उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधा काल होता है। जैसे ज्ञानावरणीय की स्थिति तीन कोटाकोटि सागरोपम की है तो अबाधाकाल तीस सौ (तीन हजार) वर्ष का है। भगवती में अष्टकर्म प्रकृतियों का अबाधा काल बताया है[196] और प्रज्ञापना[197] में अष्टकर्म प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियो का भी अबाधाकाल उल्लिखित है, विशेष जिज्ञासुओ को मूल ग्रन्थ देखने चाहिए।

जैन कर्म साहित्य मे इन कर्मों की अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का जैसा विश्लेषण है वैसा अन्य दार्शनिकों के साहित्य मे दृग्गोचर नही

---

१९३. कर्म प्रकृति गा० २

१९४. स्थानाग ४।२९६

१९५. स्थानांग ४।२९६

१९६. भगवती २।३

१९७. प्रज्ञापना २३।२।२१-२९

होता। हाँ, योग दशन मे नियतविपाकी, अनियतविपाकी, और आवापगमन के रूप मे कम की त्रिविध दशा का उल्लेख किया है। नियतविपाकी कर्म का अर्थ है—जो नियत समय पर अपना फल प्रदान कर नष्ट हो जाता है। अनियतविपाकी कम का अथ है—जो कर्म बिना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। और आवापगमन कम का अथ है—एक कर्म का दूसरे मे मिल जाना।[१९८] योगदर्शन की इन त्रिविध अवस्थाओ की तुलना क्रमश निकाचित, प्रदेशोदय, और सक्रमण के साथ की जा सकती है।

कर्म बधन से मुक्ति का उपाय

भारतीय कर्म साहित्य मे जैसे कर्म बध और उनके कारणो का विस्तार से निरूपण है उसी प्रकार उन कर्मों से मुक्त होने का साधन भी प्रतिपादित किया गया है। आत्मा नित नये कर्मो का बधन करता है, पुराने कर्मों को भोग कर नष्ट करता है। ऐसा कोई समय नही है जिस समय वह कर्म नही बाधता हो। तब प्रश्न हो सकता है कि वह कर्मों से मुक्त कैसे होगा? उत्तर है—तप और साधना से। जैसे खान मे सोना और मिट्टी दोनो एकमेक होते हैं, किन्तु ताप आदि के द्वारा जैसे उन्हे अलग अलग कर दिया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्मो को भी सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से पृथक किया जाता है। जैनदशन ने एकान्त रूप से न्याय-वैशेषिक, साख्य, वेदान्त, महायान (बौद्ध) की तरह ज्ञान को प्रमुखता नही दी है और न एकान्त रूप से मीमासक दशन की तरह क्रिया-काण्ड पर ही बल दिया है। किन्तु ज्ञान और क्रिया इन दोनो के समन्वय को ही मोक्ष माग माना है।[१९९] चारित्रयुक्त अल्पज्ञान भी मोक्ष का हतु है और विराट् ज्ञान भी, यदि चारित्र रहित है तो, मोक्ष का कारण नही

---

१९८ योगदशन, व्यास भाष्य २।१३

१९९ सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टतो सो न पाउणइ मोक्ख।
जो तव-सजममइए, जोगे न चएइ वोढु जे॥
—आवश्यक नियुक्ति गा० ९४

है।[२००] आचार्य भद्रबाहु के शब्दों मे चारित्रहीन श्रुतवेत्ता चन्दन का भार ढोने वाले गधे के समान है।[२०१] सारांश यह है कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का हेतु है। जहाँ ये दोनों सम्यक् होते है वहाँ सम्यग् दर्शन अवश्य होता है, अत आचार्यों ने तीनों को मोक्ष का मार्ग कहा है।[२०२] आगमों मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष-मार्ग रूप मे स्वीकार किया है।[२०३] किन्तु यह शाब्दिक अन्तर है, वास्तविक नही। कही पर दर्शन को ज्ञान के अन्तर्गत गिनकर ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का कारण बताया है, और कही पर तप को चारित्र से गर्भित कर ज्ञान, दर्शन, और चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।

बद्ध कर्मो से मुक्त होने के लिए सर्व प्रथम साधक संवर की साधना

---

२००. अप्पंपि सुयमहीयं, पगासयं होइ चरणजुत्तस्स।
एक्कोऽवि जह पईवो, सचक्खुयस्स पयासेइ।
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ९९

२०१. जहा खरो चन्दणभारवाही,
भारस्सभागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सुग्गईए।
—आवश्यक निर्युक्ति गा० १००

२०२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
—तत्त्वार्थ सूत्र १।१

(ख) नाणं पयासयं सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हंपि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ।
आवश्यक निर्युक्ति गा० १०३

२०३. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥
—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २-३

से नवीन कर्मो के आगमन को रोकता है।[२०४] आचार्य श्री हेमचन्द्र के शब्दो मे—'जिस तरह चौराहे पर स्थित बहु-द्वारवाले गृह मे द्वार बद न न होने पर निश्चय ही रज प्रविष्ट होती है और चिकनाई के योग से वही चिपक जाती है, और यदि द्वार बन्द हो तो रज प्रविष्ट नही होती और न चिपकती है, वसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता।"

"जिस तरह तालाब मे सर्वद्वारो से जल का प्रवेश होता है, पर द्वारो को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत जीव के प्रदेशो मे कमद्रव्य का प्रवेश नही होता है।"

'जिस तरह नौका मे छिद्रो से जल प्रवेश पाता है और छिद्रो को रोक देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत जीव के प्रदेशो मे कर्म द्रव्य का प्रवेश नही होता।[२०५]

---

२०४ शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रव । आस्रवनिरोधलक्षण सवर ।
—तत्त्वार्थ० १।४ सर्वार्थ सिद्धि

२०५ यथा चतुष्पथस्थस्य, बहुद्वारस्य वेश्मन ।
अनावृतेषु द्वारेषु, रज प्रविशति ध्रुवम् ॥
प्रविष्ट स्नेहयोगाच्च, तन्मयत्वेन बध्यते ।
न विशेन्न च बध्यत, द्वारेषु स्थगितेषु च ॥
यथा वा सरसि क्वापि, सर्वैद्वारैर्विशेज्जलम् ।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु, प्रविशेन्न मनागपि ॥
यथा वा यानपात्रस्य, मध्ये रन्ध्र विशेज्जलम् ।
कृते रन्ध्रपिधाने तु न स्तोकमपि तद्विशेत् ॥
योगादिष्वास्रवद्वारेष्वेव रुद्धेषु सवत ।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न, जीवे सवरशालिनि ॥
—नवतत्त्व साहित्य सग्रह श्री हेमचन्द्र सूरिकृत
सप्ततत्त्व प्रकरणम् ११८–१२२

इस प्रकार साधक संवर से आगन्तुक कर्मों को रोकने के साथ-साथ निर्जरा की साधना से पूर्वसंचित कर्मों को क्षय करता है।[२०६] कर्मों का एक देश से आत्मा से छूटना निर्जरा है[२०७] और जब सम्पूर्ण कर्मों को सर्वतोभावेन नष्ट कर देता है तब आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।[२०८] जब आत्मा एक बार पूर्ण रूप से कर्मों से विमुक्त हो जाता है तो फिर वह कभी कर्मबद्ध नही होता। क्योंकि उस अवस्था मे कर्म बन्ध के कारणो का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के जल जाने पर उससे पुन अंकुर की उत्पत्ति नही होती वैसे ही कर्म रूपी बीज के सम्पूर्ण जल जाने पर ससार रूपी अंकुर की उत्पत्ति नही होती।[२०९] इससे स्पष्ट है कि जो आत्मा कर्मों से बंधा हो, वह एक दिन उनसे मुक्त भी हो सकता है।

अपूर्व देन :

कर्मवाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की और विशेष रूप से जैन दर्शन की विश्व को एक अपूर्व और अलौकिक देन है। इस सिद्धान्त ने मानव को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में दीपक की लौ की तरह नही अपितु ध्रुव की तरह अटल रहने की प्रेरणा दी है। जन-जन

---

२०६. नाणेण जाणई भावे, दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

—उत्तरा० २८।३५

२०७. एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा।

—तत्त्वार्थ १।४ सर्वार्थ सिद्धि

२०८. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।

—तत्त्वार्थ० १०।३

(ख) मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
अज्ञान- हृदय ग्रन्थिनाशो, मोक्ष इति स्मृत.॥

—शिवगीता१३-३२

२०९. दग्धे बाजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुर.॥

—तत्त्वार्थ भाष्यगत अन्तिम कारिका ८

मन मे से श्वानवृत्ति को हटाकर सिंह वृत्ति जागृत की है। कर्मवाद की महत्ता के सम्बन्ध मे एतदर्थ ही डाक्टर मेक्समूलर ने कहा है—

"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पडता है, वह मेरे पूर्व जन्म के कम का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कम नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनो मतो का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे कितनी ही शका क्यो न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए है और उसी मत से मनुष्यो को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने मे उत्तेजन मिला है।"[२१०]

जो सत्य के अन्वेषी सुधी और धैर्यवान् पाठक है उन्हे यह सत्य तथ्य अनुभव हुए बिना नही रहेगा कि भारतीय दर्शन का कर्मवाद सिद्धान्त अद्भुत अनन्य और अपराजेय है। इस वैज्ञानिक युग मे भी यह एक चिरन्तन ज्योति के रूप मे मानव मात्र के पथ को आलोकित कर सकता है।

❀

---

२१० दर्शन और चिन्तन, द्वि० खण्ड पृ० २१६।

चार | स्याद्वाद

स्याद्वाद क्या है ?

दार्शनिक जगत् को जैन दर्शन ने जो मौलिक एव असाधारण देन दी है, उसमे अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सर्वोपरि है । अनेकान्तवाद जैन परम्परा की एक विलक्षण सूझ है, जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने मे सहायक है। अनेकान्त का प्रतिपादक वाद स्याद्वाद कहलाता है ।

'स्याद्वाद' पद मे दो शब्द है—स्यात् और वाद । 'स्यात्' शब्द तिङन्त पद जैसा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे यह एक अव्यय है जो "कथंचित्, किसी अपेक्षा से, अमुक दृष्टि से" इस अर्थ का द्योतक है[1]। 'वाद' शब्द का अर्थ सिद्धान्त, मत या प्रतिपादन करना होता है ।

इस प्रकार स्याद्वाद पद का अर्थ हुआ—सापेक्ष-सिद्धान्त, अपेक्षावाद, कथंचित्वाद या वह सिद्धान्त जो विविध दृष्टि विन्दुओं से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करता है ।

---

१. स्यादिति शब्दो अनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधि विचार प्रश्नादिद्योती, तथा विवक्षापायात् ।

—अष्टसहस्री पृ० २८६

सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतक: कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपात. ।

—पञ्चास्तिकाय टीका, श्री अमृतचन्द्र

जैनाचार्यो ने स्याद्वाद को ही अपने चिन्तन का आधार बनाया है। चिन्तन की यह पद्धति हम एकांगी विचार और निश्चय से बचाकर सर्वाङ्गीण विचार के लिए प्रेरित करती है और इसका परिणाम यह होता है कि हम सत्य के प्रत्येक पहलू से परिचित हो जाते है। वस्तुत समग्र सत्य को समझने के लिए स्याद्वाद दृष्टि ही एकमात्र साधन है। स्याद्वाद पद्धति को अपनाए बिना विराट् सत्य का साक्षात्कार होना सम्भव नही। जो विचारक वस्तु के अनेक धर्मो को अपनी दृष्टि से ओझल करके किसी एक ही धर्म को पकड़कर अटक जाता ह वह सत्य को नही पा सकता।[2] इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—'स्यात्' शब्द सत्य का प्रतीक है।[3] और इसी कारण जैनाचार्यो का यह कथन है कि जहाँ कही स्यात् शब्द का प्रयोग न दृष्टिगोचर हो वहाँ भी उसे अनुस्यूत ही समझ लेना चाहिए।[4]

स्याद्वाद दृष्टि विविध अपेक्षाओ से एक ही वस्तु मे नित्यता, अनित्यता, सदृशता, विसदृशता, वाच्यता, अवाच्यता, सत्ता, असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होने वाले धर्मो का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर एव बुद्धिसगत समन्वय प्रस्तुत करती है।[5]

साधारणतया स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कह दिया जाता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि दोनो मे प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध है। अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा द्वारा

---

२ एयन्ते निरवेक्खे नो सिज्झइ विविहभावगं दव्व।

३ स्यात्कार सत्यलाञ्छन।

४ सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।

—लघीयस्त्रय, श्लो० २२

५ स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप, वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव।

—अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २५

आचार्य हेमचन्द्र

प्रतिपादित करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।[६] इस प्रकार स्याद्वाद श्रुत है और अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट किया है—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो ही वस्तुतत्त्व के प्रकाशक है। भेद इतना ही है कि केवलज्ञान वस्तु का साक्षात् ज्ञान कराता है जब कि स्याद्वाद श्रुत होने से असाक्षात् ज्ञान कराता है।[७]

समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग

जगत् की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओ मे जो परस्पर विरुद्ध विचार प्रस्तुत किए है, उनका अध्ययन करने पर जिज्ञासु को घोर निराशा होना स्वाभाविक है। उन विचरो मे एक पूर्व की ओर जाता है तो दूसरा पश्चिम की ओर। ऐसी स्थिति मे जिज्ञासु अपनी आस्था स्थिर करे तो किस पर ? किसे वास्तविक और किसे अवास्तविक स्वीकार करे ? आखिर ये दार्शनिक किसी भी विषय में एकमत नही होते। आत्मा जैसे मूलतत्त्व के सम्बन्ध में भी इनके दृष्टिकोणों में आकाश-पाताल का अन्तर है। चार्वाकदर्शन आत्मतत्त्व की सत्ता को ही अस्वीकार करता है। जो दर्शन उसे स्वीकार करते है उनमे भी एकमत नही। सांख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य एवं अविकारी कहता है। उसके मन्तव्य के अनुसार आत्मा अकर्त्ता है, निर्गुण है। नैयायिक-वैशेषिकों ने परिवर्तन तो माना, पर उसे गुणो तक ही सीमित रक्खा। मीमांसक अवस्थाओ मे परिवर्तन मान कर भी द्रव्य को नित्य मानते है। बुद्ध के समक्ष जब आत्मा विषयक प्रश्न उपस्थित किया गया तो उन्होने उसे अव्याकृत प्रश्न कह कर मौन धारण कर लिया।[९]

---

६. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वाद.।

—लघीयस्त्रय० ६२ अकलंक

७. स्याद्वादकेवलज्ञाने वस्तुतत्त्वप्रकाशने।
भेद. साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यत्तमं भवेत्॥

—आप्तमीमांसा, १०५

८. अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूप नित्यम्।

९ मज्झिमनिकाय, चूल मालुंक्य सुत्त ६३।

इसी प्रकार जब आत्मा के परिमाण के विषय मे विचार किया गया तो किसी ने उसे आकाश की भाँति सर्वव्यापी माना, किसी ने अणु परिमाण, किसी ने अगुष्ठ परिमाण तो किसी ने श्यामाक के बराबर कहा।

एक कहता है—चेतना भूतो से उत्पन्न होती या व्यक्त होती है। दूसरे का कथन है कि चेतना आत्मा का धर्म नहीं, जड प्रकृति से प्रादुर्भूत तत्त्व है। तीसरा दर्शन विधान करता है कि चेतना आत्मा का गुण तो नही है, किन्तु समवाय सबध से आत्मा मे रहती है।

इस प्रकार जब आत्मा जैसे तत्त्व के विषय मे भी ये विचारक किसी एक तथ्य पर नही टिक पाते तो अन्य पदार्थों के विषय मे क्या कहा जाय।

दर्शनो और दार्शनिको की बात जाने दीजिए और अपनी ही विचारधाराओ को जरा गहराई से देखिए। जब हमारा दृष्टिकोण अभेदप्रधान होता है तो प्रत्येक प्राणी मे चेतना की दृष्टि से समानता प्रतीत होती है, और चेतना से आगे बढकर जब सत्ता को आधार बताते हैं तो चेतन और अचेतन सभी विद्यमान पदार्थ सत्स्वरूप मे एकाकार भासित होने लगते हैं। इसके विपरीत, जब हमारे दृष्टिकोण मे भेद की प्रधानता होती है तो अधिक से अधिक सदृश प्रतीत हो रहे दो पदार्थों मे भी भिन्नता प्रतीत हुए बिना नही रहती। इस प्रकार हम स्वय अपने ही विरोधी विचारो म खो जाते हैं और सोचने लगते हैं—सत्य अज्ञेय है, उसका पता लगना असम्भव है। इस निराशापूर्ण भावना ने ही अज्ञेयवादी दर्शन को जन्म दिया है।

अनेकान्तवाद का आलोक हमे निराशा के इस अन्धकार से बचाता है। वह हमे एक ऐसी विचारधारा की ओर ले जाता है, जहाँ सभी प्रकार के विरोधो का उपशमन हो जाता है। अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समस्याओ, उलझनो और भ्रमणाओ के निवारण का समाधान प्रस्तुत करता है। अपेक्षा विशेष से पिता को पुत्र पुत्र को भी पिता, छोटे को भी बडा, बडे को भी छोटा यदि कहा जा सकता है तो अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही। अनेकान्तवाद वह न्यायाधीश है जो परस्पर विरोधी दावेदारो का फैसला बडे ही सुन्दर

ढग से करता है और जिससे वादी और प्रतिवादी दोनों को ही न्याय मिलता है पूर्व कालीन महान् दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक हरिभद्र आदि ने अनेकान्तदृष्टि का अवलम्बन करके ही सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्त्व अनित्यत्त्व, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाग्य, पुरुषार्थ आदि विरोधी वादों का तर्क संगत समन्वय किया और विचार की एक शुद्ध, व्यापक, बुद्धिसगत और निष्पक्ष दृष्टि प्रदान की। इस दृष्टि से देखने पर खडित एवं एकांगी वस्तु के स्थान पर हमें सर्वांगीण परिपूर्ण वस्तु दृष्टिगोचर होने लगती है। अनेकान्त दृष्टि विरोध का शमन करने वाली है, इसी कारण वह पूर्ण सत्य की ओर ले जाती है।

अनेकान्तवाद की इस विशिष्टता को हृदयंगम करके ही जैन-दार्शनिको ने उसे अपने विचार का मूलाधार बनाया है। वस्तुतः वह समस्त दार्शनिको का जीवन है, प्राण है। जैनाचार्यों ने अपनी समन्वयात्मक उदार भावना का परिचय देते हुए कहा है—एकान्त वस्तुगत धर्म नही, किन्तु बुद्धिगत कल्पना है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तो एकान्त का नामनिशान नही रहता। दार्शनिको की भी समस्त दृष्टियां अनेकान्त दृष्टि मे उसी प्रकार विलीन हो जाती है जैसे विभिन्न दिशाओं से आने वाली सरिताएँ सागर में एकाकार हो जाती है।[१०]

प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दों मे कहा जा सकता है—'सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नही कर सकता। वह एकनयात्मक दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य की दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। अनेकान्त वादी न किसी को न्यून और न किसी को अधिक समझता है—उसका सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी वही है जो अनेकान्तवाद का अवलम्बन लेकर समस्त दर्शनो पर समभाव रखता हो। मध्यस्थभाव रहने पर शास्त्र के एक पद

---

१०. उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, अविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

—सिद्धसेन

का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा कोटि-कोटि शास्त्रो को पढ लने पर भी कोई लाभ नही।"[11]

हरिभद्र सूरि ने लिखा है—'आग्रहशील व्यक्ति युक्तियो को उमी जगह खीचतान करके लेजाना चाहता है जहाँ पहले से उसकी बुद्धि जमी हुई है, मगर पक्षपात से रहित मध्यस्थ पुरुष अपनी बुद्धि का निवेश वही करता है जहा युक्तियाँ उसे ले जाती है।'[12] अनेकान्त दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तुस्वरूप को ही शुद्ध बुद्धि से स्वीकार करना चाहिए। बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकान्त के प्रति आग्रहशील है और दूसरे सत्याश को स्वीकार करने के लिए तत्पर नही है, वह तत्त्व रूपी नवनीत नही पा सकता।"

"गोपी नवनीत तभी पाती है जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खीचती और दूसरे छोर को ढीला छोडती है। अगर वह एक ही छोर को खीचे और दूसरे को ढीला न छोडे तो नवनीत नही निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से विकसित किया जाता है, तभी सत्य का अमृत हाथ लगता है।"[13] अतएव एकान्त के गदले पोखर से दूर रहकर

---

११ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्याऽनेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोद्देशा विशेषेण, य पश्यति स शास्त्रवित्॥
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति।
स एव धर्मवाद स्याद् यद् बालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थसहित ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्त महात्मना॥

—ज्ञानसार उपाध्याय यशोविजय

१२ आग्रही बत निनीषति युक्ति,
यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति,
यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

अनेकान्त के शीतल स्वच्छ सरोवर मे अवगाहन करना ही उचित है।

स्याद्वाद का उदार दृष्टिकोण अपनाने से समस्त दर्शनो का सहज ही समन्वय साधा जा सकता है।

अन्य दर्शनों पर अनेकान्त की छाप :

अनेकान्तवाद सत्य का पर्यायवाची दर्शन है। यद्यपि कतिपय भारतीय दार्शनिको ने अपनी एकान्त विचारधारा का समर्थन करते हुए अनेकान्तवाद का विरोध भी किया है, मगर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शनों पर उसकी छाप न्यूनाधिक रूप में अंकित हुई है। असल में यह इतना तर्कयुक्त और बुद्धिसंगत सिद्धान्त है कि इसकी सर्वथा उपेक्षा की ही नहीं जा सकती।

ईशावास्योपनिषद् मे आत्मा के सम्बन्ध मे कहा गया है—'तदेजति, तन्नैजति, तद् दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्यसर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः।' अर्थात् आत्मा चलती भी है और नही भी चलती है, दूर भी है, समीप भी है, वह सब के अन्तर्गत भी है, बाहर भी है।

क्या ये उद्‌गार स्याद्वाद से प्रभावित नही है? भले ही शंकराचार्य और रामानुजाचार्य एक वस्तु में अनेक धर्मो का अस्तित्व असम्भव कहकर स्याद्वाद का विरोध करते है, मगर जब वे अपने मन्तव्य का निरूपण करने चलते है तब स्याद्वाद के असर से वे भी नही बच पाते। उन्हें भी अनन्यगत्या स्याद्वाद का आधार लेना पड़ता है। ब्रह्म के पर और साथ ही अपर रूप की कल्पना मे अनेकान्त का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होने सत्य की परमार्थसत्य, व्यवहारसत्य और प्रतिभाससत्य के रूप में जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे अनेकान्त की पुष्टि ही होती है। वे कहते है—'दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोष न निर्गुणम्।' अर्थात् इस लोक मे दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है और न निर्गुण है।

---

१३. एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

आशय यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु मे किसी अपेक्षा से दोष हैं तो किसी अपेक्षा से गुण भी है। यह अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद का रूप नही तो क्या है ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूछा गया—'आप विद्वान् है या अविद्वान् ?' स्वामी जी ने कहा—'दार्शनिक क्षेत्र मे विद्वान् और व्यापारिक क्षेत्र म अविद्वान्।' यह अनेकान्तवाद नही तो क्या है ?

बुद्ध का विभज्यवाद एक प्रकार का अनेकान्तवाद है। उनका मध्यममार्ग भी अनेकान्त मे प्रतिफलित होने वाला वाद ही है।

सांख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणमयी मानकर अनेकान्त को ही अगीकार करते है।

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो आदि ने समस्त विश्ववर्ती पदार्थों को सत् और असत् इन दो मे समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता बतलाते हुए जगत् की विविधता सिद्ध की है।

आइन्स्टीन का सापेक्षसिद्धान्त स्याद्वाद की विचारधारा का अनुसरण करता है।

इन कतिपय उदाहरणो से पाठक समझ सकेंगे कि अनेकान्तवाद एक ऐसा व्यापक दृष्टिकोण है कि दार्शनिक जगत् म उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किसी न किसी रूप मे प्रत्येक दर्शन को उसका आश्रय लेना ही पडता है।

सामान्य रूप से अनेकान्त के सम्बन्ध मे इतना ही जान लेने के पश्चात् अब हमे अनेकान्त के प्रकाश मे प्रतिफलित होने वाल कतिपय मुख्यवादो का विचार भी कर लेना चाहिए। वे वाद इस प्रकार है।

नित्यानित्यता—

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। द्रव्य और पर्याय का सम्मिलित रूप वस्तु है, या यो कहा जा सकता है कि द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। पर्यायो के अभाव मे द्रव्य का और द्रव्य के अभाव में पर्याय का कोई अस्तित्व सम्भव नही है। जहाँ जीवद्रव्य है वहाँ उसके

कोई न कोई पर्याय भी अवश्य होते हैं। जो जीव है वह मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर अथवा सिद्ध में से कुछ अवश्य होगा और जो मनुष्य आदि किसी पर्याय के रूप में दृष्टिगोचर होता है वह जीव अवश्य होता है।

द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य है, क्योंकि जीव द्रव्य का कभी विनाश नही हो सकता, मगर पर्यायो का परिवर्त्तन सदैव होता रहता है। इस दृष्टि मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि इससे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद—दोनो का समन्वय हो जाता है। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत है किन्तु उसके पर्यायो का उच्छेद होता रहता है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि द्रव्य और उसके पर्याय पृथक्-पृथक् दो वस्तुएं नही हैं। उनमे वस्तुगत कोई भेद नही है, केवल विवक्षाभेद है। अनेकान्तदर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, अर्थात् पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य से ध्रुव है। कोई भी वस्तु इसका अपवाद नहीं है।[१४]

जब कभी कोई पूर्व परिचित व्यक्ति हमारे समक्ष उपस्थित होता है तब हम कहते है 'यह वही है।' वर्षा होते ही भूमि शस्यश्यामला हो जाती है, तब हम कहते हैं—हरियाली उत्पन्न हो गई। हमारे हाथ में कपूर है यह देखते-ही-देखते उड़ जाता है, तब हम कहते है वह नष्ट हो गया। 'यह वही है'—यह नित्यता का सिद्धान्त है। 'हरियाली उत्पन्न हो गई—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है और वह नष्ट हो गया—यह विनाश का सिद्धान्त हैं।

द्रव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परिणामवाद, आरम्भवाद और समूहवाद आदि अनेक विचार है। उसके विनाश के सम्बन्ध में भी रूपान्तरवाद, विच्छेदवाद आदि अनेक अभिमत है। सांख्यदर्शन परिणामवादी है, वह कार्य को अपने कारण मे सत् मानता है। सत् कर्मवाद के अभिमतानुसार जो असत् है उसकी उत्पत्ति नही होती और जो सत् है उसका विनाश नही होता, किन्तु केवल रूपान्तर

---

१४. सद् द्रव्य लक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५

होता है। उत्पत्ति का तात्पर्य है—सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का तात्पर्य है—सत् की अव्यक्ति। न्याय वैशेषिक दर्शन आरम्भवादी है। वह कार्य का अपने कारण में सत् नहीं मानता। असत् कार्यवाद के मतानुसार असत् की उत्पत्ति होती है और सत का विनाश होता है। एतदर्थ ही नैयायिक ईश्वर को कूटस्थ नित्य और दीपक को सर्वथा अनित्य मानते हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार स्थूल द्रव्य सूक्ष्म अवयवों का समूह है, तथा द्रव्य क्षणविनश्वर है। उनके विचारानुसार कुछ भी स्थिति नहीं है। जो दर्शन एकान्त नित्यवाद को मानते हैं वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष है उस परिवर्तन की उपेक्षा नहीं कर सकते। और जो दर्शन एकान्त अनित्यवाद को मानते हैं वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष हैं उस स्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकते। एतदर्थ ही नैयायिकों ने दृश्य वस्तुओं को अनित्य मानकर उनके परिवर्तन की विवक्षा की और बौद्धों ने संतति मानकर उनके प्रवाह की विवेचना की।

आधुनिक वैज्ञानिक रूपान्तरवाद के सिद्धान्त को एक मत से स्वीकार करते हैं। जैसे एक मोमबत्ती है, जलाने पर कुछ ही क्षणों में उसका पूर्ण नाश हो जाता है। प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि मोमबत्ती के नाश होने पर अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है।[१५]

इसी प्रकार पानी को एक बर्तन में रखा जाये, और उस बर्तन में दो छिद्र कर तथा उनमें कार्क लगाकर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ उस पानी में खड़ी कर दी जायें और प्रत्येक पत्ती पर एक काच का ट्यूब लगा दिया जाय तथा प्लेटिनम की पत्तियों का सम्बन्ध तार से बिजली की बैटरी के साथ कर दिया जाये तो कुछ ही समय में पानी गायब हो जायेगा। साथ ही उन प्लेटिनम की पत्तियों पर अवस्थित ट्यूबों पर ध्यान केन्द्रित किया जायेगा तो दोनों में एक एक तरह की गैस

---

१५ A text book of Inorganic Chemistry by J R Parting N P 15

१६ A text Book of Inorganic Chemistry by G S—Neuth, P 237

प्राप्त होगी, जो आक्सीजन और हाइड्रोजन के नाम से पहचानी जाती है।[१६]

वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि पुद्गल शक्ति में और शक्ति पुद्गल मे परिवर्तित हो सकती है।[१७] सापेक्षवाद की दृष्टि से पुद्गल के स्थायित्व के नियम व शक्ति के स्थायित्व के नियम को एक ही नियम मे समाविष्ट कर देना चाहिए। उसकी संज्ञा 'पुद्गल और शक्ति के स्थायित्व का नियम' इस प्रकार कर देनी चाहिए।[१८]

स्याद्वाद की दृष्टि से सत् कभी विनष्ट नही होता और असत् की कभी उत्पत्ति नही होती[१९]। ऐसी कोई स्थिति नही जिसके साथ उत्पाद और विनाश न रहा हो अर्थात् जिनकी पृष्ठ भूमि मे स्थिति है उनका उत्पाद और विनाश अवश्य होता है।

सभी द्रव्य उभय-स्वभावी है। उनके स्वभाव की विवेचना एक ही प्रकार की नही हो सकती। असत् की उत्पत्ति नही होती और सत् का कभी नाश नही होता। इस द्रव्य नयात्मक सिद्धान्त से द्रव्यों की ही विवेचना हो सकती है, पर्यायों की नही। उनकी विवेचना—असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है—इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही की जा सकती है। इन दोनों को एक शब्द में परिणामी-नित्यवाद या नित्यानित्यवाद कहा जा सकता है। इसमे स्थायित्व और परिवर्तन की सापेक्ष रूप से विवेचना है। इस विश्व में ऐसा द्रव्य नही जो सर्वथा ध्रुव हो, और ऐसा भी द्रव्य नही है जो सर्वथा परिवर्तनशील ही हो। दीपक, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है और जीव जो स्थायी है, वह भी परिवर्तनशील है। स्थायित्व

---

१७ General Chemistry by finus Pauling P P. 4-5

१८. General and Inorganic Chemistry for by P. J. durrant 18.

१९. भावस्स णत्थि णासो,
णत्थि अभावस्स उप्पादो।
—पंचास्तिकाय, १५

श्रौर परिवर्तनशीलता की दृष्टि मे जीव श्रौर दीपक मे कोई श्रन्तर नहीं है।[२०]

केवल स्थिति ही होती तो सभी द्रव्यो का एक ही रूप रहता, उनमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही होता। केवल उत्पाद श्रौर व्यय ही होता तो केवल उनका क्रम होता किन्तु स्थायी श्राधार के श्रभाव मे उनका कुछ भी रूप नही होता। कर्तृत्व, कर्म श्रौर परिणामी की कोई विवेचना नही होती। स्याद्वाद की दृष्टि से परिवर्तन भी है श्रौर उसका श्राधार भी है। परिवर्तनरहित किसी भी प्रकार का स्थायित्व नही है। श्रौर स्थायित्व रहित किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही है। श्रर्थात् परिवर्तन स्थायी म होता है श्रौर स्थायी वही हो सकता है जिसमे परिवर्तन हो। साराश यह ह कि निष्क्रियता श्रौर सक्रियता, स्थिरता श्रौर गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है उसे ही द्रव्य कहा गया है। श्रपने केन्द्र म प्रत्येक द्रव्य ध्रुव, स्थिर श्रौर निष्क्रिय है। उसके चारो श्रौर परिवर्तन की एक शृङ्खला है जिसे हम परमाणु की रचना से समझ सकते हैं। विज्ञान के श्रनुसार श्रणु की रचना तीन प्रकार के कणो से मानी गई है—(१) प्रोटोन (२) इलेक्ट्रोन (३) न्यूट्रोन। धनात्मक कण प्रोटोन है। परमाणु का वह मध्यबिन्दु होता है। ऋणात्मक कण इलेक्ट्रोन है। यह धनाणु के चारो श्रौर परिक्रमा करता है। उदासीन कण न्यूट्रान है।

आत्मा का शरीर से भेदाभेद

श्रात्मा शरीर से भिन्न है श्रथवा श्रभिन्न है, इस विषय मे भी दर्शनशास्त्रो के मन्तव्य विविध प्रकार के उपलब्ध होते हैं। चार्वाक दर्शन श्रात्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार नहीं करता। वह शरीर से ही चेतना

---

२० आदीपमाव्योमसमस्वभाव
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य—
दिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापाः॥
अन्ययोग व्यवच्छेदिका, श्लो० ५

की उत्पत्ति मानता है और शरीर का विनाश होने पर चेतना का भी विनाश हो जाना स्वीकार करता है।[२१] सूत्रकृतांग सूत्र मे तज्जीव-तच्छरीरवाद का उल्लेख मिलता है। वह चार्वाक मत से किंचित् भिन्न होता हुआ भी एक ही वस्तु को जीव और शरीर के रूप मे स्वीकार करता है।[२२] अनेक दर्शन आत्मा का शरीर से एकान्त भिन्नत्व स्वीकार करते है। इस समस्या को सुलझाते हुए भगवान् महावीर ने कहा—आत्मा कथंचित् शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।[२३] आत्मा को शरीर से भिन्न तत्त्व न माना जाय और दोनों का एकत्व स्वीकार किया जाय तो शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी नाश मानना होगा और उस स्थिति मे पुनर्जन्म एवं मुक्ति की कलपना निराधार हो जायगी। किन्तु युक्ति और आगम आदि प्रमाणों से पुनर्जन्म आदि की सिद्धि होती है, अत. आत्मा को शरीर से पृथक् मानना ही समीचीन है। साथ ही, अनादि काल से आत्मा शरीर के साथ ही रहा हुआ है और कृत कर्मों का फलोपभोग शरीर के द्वारा ही होता है। शरीर पर प्रहार होता है तो दु.ख की अनुभूति आत्मा को होती है। देवदत्त पर प्रहार किया जाय तो जिनदत्त को दु:खानुभव नहीं होता, क्योकि देवदत्त के शरीर से जिनदत्त की आत्मा भिन्न है। इसी प्रकार यदि देवदत्त की आत्मा देवदत्त के शरीर से भी सर्वथा भिन्न हो तो उसे भी दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिये। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैसे देवदत्त के शरीर और जिनदत्त की आत्मा मे भेद है, वैसा भेद देवदत्त के शरीर और देवदत्त की आत्मा में नही है। यही देह और आत्मा का अभेद है।

---

२१. भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

२२. पत्तेयं कसिणे आया, जे बाला जे अ पडिया।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया ॥

—सूत्रकृतांग, १।१।११

२३. आया भन्ते ! काये, अन्ने काये ? गोयमा ! आया वि काये, अन्ने वि काये।

सत्ता और असत्ता

जब यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुतत्त्व सापेक्ष है और स्याद्वादपद्धति से ही उसका ठीक प्रतिपादन हो सकता है, तो वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के विषय में भी हम अनेकान्त को लागू करके देखना होगा। जैन दार्शनिकों ने बड़ी ही खूबी के साथ इस विषय पर ऊहापोह किया है और स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के द्वारा अस्तित्व नास्तित्व की समस्या का समाधान खोजा है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये चारों चतुष्टय कहलाते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्ववान् है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है।[२४]

उदाहरण के लिए एक स्वर्णघट को लीजिए। वह स्वर्ण का बना है, यह स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व है। वह जिस क्षेत्र अर्थात् स्थान में रक्खा है, उस क्षेत्र की अपेक्षा से है। जिस काल में उसकी सत्ता है, उस काल की अपेक्षा से है। उसमें जो पीतवर्ण आदि अनेक पर्याय विद्यमान है, उनकी अपेक्षा से है। किन्तु वही घट मृत्तिकाद्रव्य की अपेक्षा से नहीं है। अन्य क्षेत्र की अपेक्षा से भी नहीं है। कालान्तर की अपेक्षा से भी नहीं है। कृष्णवर्ण आदि पर्यायों से भी उसमें अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार स्वर्णघट सोने का है, मृत्तिका आदि का नहीं है। अमुक क्षेत्र में है अन्य क्षेत्र में नहीं है। जिस काल में है उसके अतिरिक्त अन्य काल की अपेक्षा से नहीं है। वह अपने स्वपर्यायों में है, पर पर्यायों से नहीं है इस प्रकार स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा उसमें अस्तित्व और नास्तित्व सहज ही घटित होते हैं।

कई लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म समझ कर एक ही वस्तु में दोनों का समन्वय असम्भव मानते हैं। मगर वे भूल जाते हैं कि एक ही अपेक्षा से यदि अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाय तभी उनमें विरोध होता है, विभिन्न अपेक्षाओं से विधान

---

२४ सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥
—आप्तमीमांसा, श्लोक १५

करने मे कोई विरोध नहीं होता। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह कहना कि यह मनुष्य है, मनुष्येतर नही है, भारतीय है, पाश्चात्य नहीं है, वर्त्तमान मे है, सदा से या सदा रहने वाला नहीं है, विद्वान् है मूर्ख नहीं है; तो क्या हम उस व्यक्ति के विषय मे परस्परविरुद्ध विधान करते है? नही। यह विधान न केवल तर्कसंगत है, अपितु व्यवहारसंगत भी है। हम प्रतिदिन इसी प्रकार व्यवहार करते हैं। ऐसा व्यवहार किए विना किसी वस्तु का निश्चय हो भी नही सकता। 'यह पुस्तक है' ऐसा निश्चय तो तभी संभव है, जब हम यह जान लें कि यह पुस्तक के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

इन उदाहरणों से प्रत्येक पदार्थ सत् और असत् किस प्रकार है, यह समझ मे आ जाता है। मगर जैनाचार्यों ने इस विचार को सुस्पष्ट करने के लिए सप्तभंगी का विधान किया है, जिससे वस्तु मे प्रत्येक धर्म की सगति एकदम निर्विवाद हो जाती है।

सप्तभंगी :

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उन अनन्त धर्मों मे से प्रत्येक धर्म की ठीक-ठीक संगति विठलाने के लिए विधि, निषेध आदि की विवक्षा से सात भग होते हैं। यही सप्तभंगी है।[२५] ये सात भंग प्रत्येक धर्म पर घटित किए जा सकते हैं, किन्तु उदाहरण के रूप में सत्ता-धर्म को लेकर यहाँ उनका उल्लेख किया जाता है। वे निम्न लिखित है—

(१) स्यादस्ति—स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है।

(२) स्यान्नास्ति—परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रत्येक वस्तु नहीं है।

(३) स्यादस्ति-नास्ति—स्वकीय तथा परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वस्तु है और नही है।

---

२५. सप्तभिः प्रकारैर्वचन-विन्यासः सप्तभङ्गीतिगीयते।

—स्याद्‌वाद मंजरी, का० २३ टीका

(४) स्यादवक्तव्य—युगपद् कथन की अपेक्षा से वस्तु अनिवचनीय है, अर्थात् सत्ता और असत्ता को एक साथ कहा नहीं जा सकता।

(५) स्यादस्ति अवक्तव्य—वस्तु स्वचतुष्टय से सत् होने पर भी, एक साथ स्व पर चतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

(६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य—पर चतुष्टय से असत् होते हुए भी एक साथ स्व-पर चतुष्टय से अवक्तव्य है।

(७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य—स्वचतुष्टय से सत्, पर चतुष्टय से असत होते हुए भी एक साथ स्व पर चतुष्टय से अनिवचनीय हैं।

इसी प्रकार नित्यत्व, एकत्व आदि सभी धर्मों के विषय में यह सप्तभगी लागू होती है। यह सात भग वस्तुत प्रथम और द्वितीय भग के ही व्यापक स्वरूप हैं।

पाठक समझ सकेंगे कि स्याद्वाद सिद्धान्त मे वस्तुस्वरूप की विवेचना सापेक्ष दृष्टि से की गई है। उक्त सातो भगो का आधार काल्पनिक नही वरन् वस्तु का विराट और विविधरूप स्वरूप ही है। स्याद्वाद सिद्धान्त की चमत्कारिक शक्ति और व्यापक प्रभाव को हृदयगम करके डॉ० हर्मन जैकोबी ने कहा था—'स्याद्वाद से सब सत्य विचारो का द्वार खुल जाता है।'

अभी हाल म ही मे अमेरिका के विश्रुत दार्शनिक प्राफेसर आर्चि० जे० बह्न ने स्याद्वाद का अध्ययन करके जैनो को ये प्रेरणाप्रद शब्द कहे हैं—विश्वशान्ति की स्थापना के लिए जनो को अहिंसा की अपेक्षा स्याद्वाद सिद्धान्त का अत्यधिक प्रचार करना उचित है। महात्मा गाधी को भी यह सिद्धान्त बडा प्रिय था और आचार्य विनोबा जैसे शान्तिप्रसारक सन्त इसके महत्त्व को मुक्त कठ से स्वीकार करते है।

भ्रम निवारण

सप्तभगी सिद्धान्त के विषय म कतिपय पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानो की जो गलत धारणा है, उसका उल्लेख यहाँ कर देना अनुचित न होगा।

प्राचीन जैन आगमो मे सप्तभंगी बीज रूप में उपलब्ध होती है।[२६] आचार्य कुन्दकुन्द ने कुछ ही भगों का उल्लेख किया है।[२७] किन्तु इनके पश्चाद्वर्त्ती आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हेमचन्द्र, वादिदेव आदि ने उसका स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रतिपादन क्रम को कुछ विद्वानो ने स्याद्वाद या सप्तभंगी का विकासक्रम समझ लिया है किन्तु तथ्य यह है कि जैन तत्त्वज्ञान सर्वज्ञमूलक है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्करों के ज्ञान मे जो तत्त्व प्रतिभासित होता है, उसी को उनके प्रधान शिष्य शब्द-बद्ध करते है[२८] और फिर उनके शिष्य प्रशिष्य उसके एक-एक अग का आधार लेकर युग की परिस्थिति के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों की रचना करते है। इस प्रकार तत्त्वविवेचन का क्रम आगे बढ़ता है। इस विवेचनक्रम को तत्त्व का विकासक्रम समझ लेना युक्तिसंगत नही है।

इस युग मे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव हुए है। उन्होंने जो उपदेश किया वही उनके पश्चात् होने वाले तेईस तीर्थङ्करों ने किया। वही उपदेश कालक्रम से उनके अनुयायी विभिन्न आचार्यों द्वारा जैन साहित्य मे लिपिबद्ध किया गया है। किसी भी विषय का संक्षिप्त या विस्तृत विवेचन उसके लेखक की संक्षेपरुचि अथवा विस्तार रुचि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त युग की विचारधारा भी उसे प्रभावित करती है। खासतौर से दार्शनिक साहित्य मे ऐसा भी होता है कि कोई लेखक जब किसी विषय के ग्रन्थ की रचना करता है तो अपने समय तक के विरोधी विचारो का उसमे उल्लेख करता है

---

२६. जीवा ण भंते ! कि सासया, असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया। दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।

—भगवती, ७।२।७७३

२७. सिय अत्थि णत्थि उहयं—

—पंचास्तिकाय, प्रवचनसार

२८. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणं।

—भद्रबाहु।

और अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनका निराकरण भी करता है। जैन दार्शनिक साहित्य मे भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रतिपादन क्रम को अगर कोई मूल तत्त्व का विकासक्रम समझ बैठे तो यह उसकी भूल ही कही जाएगी।

अमरीकी विद्वान आर्चि० जे० वहू इसी भूल के शिकार हुए हैं। उन्होने स्याद्वाद के निरूपणक्रम को स्याद्वाद का विकासक्रम समझ लिया है। एक भूल अनेक भूलो की सृष्टि कर देती है। जब उन्होने स्याद्वाद के क्रमविकास की भ्रान्त कल्पना की तो दूसरी भूल यह हो गई कि वे सप्तभगी को बौद्धो के चतुष्कोटिनिषेध का अनुकरण अथवा विकास समझने लगे, यद्यपि उन दोनो मे बहुत अधिक अतर है।

सर्वप्रथम हमे इतिहास द्वारा निर्णीत इस तथ्य को ध्यान मे रखना चाहिए कि जैनधर्म, बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन है।[२९] महात्मा बुद्ध से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। तेईसवें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ उनसे लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे। उन्होने स्याद्वाद सिद्धान्त का निरूपण किया था। सजय वेलट्ठिपुत्त, जो बुद्ध के पूर्ववर्ती हैं, उन्होने स्याद्वाद को ठीक तरह न समझ कर सशयवाद की प्ररूपणा की थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त का बुद्ध से पहले ही अस्तित्व था। ऐसी स्थिति मे यह समझना कि सप्तभगी सिद्धान्त बौद्धो के चतुष्कोटिप्रतिषेध का विकसित रूपान्तर है, सर्वथा निराधार है। चतुष्कोटिप्रतिषेध का सिद्धान्त तो बुद्ध के भी बाद मे प्रचलित हुआ है। इसके अतिरिक्त सप्तभगी और चतुष्कोटिप्रतिषेध के आशय मे भी बहुत अन्तर है। बौद्धो का चतुष्कोटि-प्रतिषेध यो है—

१—वस्तु है, ऐसा नहो है।
२—वस्तु नही है, ऐसा भी नही है।
३—वस्तु है और नही है, ऐसा भी नही है।

---

२९ देखिए, डा० हर्मन जैकोबी द्वारा लिखित जैन सूत्राज की भूमिका।

४—वस्तु है और नही है, ऐसा नही है, यह भी नहीं है ।[30]

सप्तभंगी के स्वरूप का उल्लेख पहले किया जा चुका है । सप्तभंगी मे और प्रस्तुत चतुष्कोटि प्रतिषेध में वस्तुतः कोई समानता नही है । सप्तभंगी मे वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व आदि का प्रतिपादन है, जब कि इस प्रतिषेध मे अस्तित्व को कोई स्थान नही है, केवल नास्तित्व का ही निरूपण पाया जाता है। सप्तभंगी मे जो अस्तित्व और नास्तित्व का विधान है, वह स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के आधार पर है और क्षण-क्षण मे होने वाला हमारा अनुभव उसका समर्थन करता है । सप्तभंगी के अनुसार मनुष्य मनुष्य है, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर नही है । किन्तु चतुष्कोटि प्रतिषेध का कहना है कि कि मनुष्य मनुष्य नही है, मनुष्येतर भी नही है; उभय रूप भी नही है, अनुभय रूप भी नही है । वह कुछ भी नही है और वह कुछ भी नही है, ऐसा भी नही है । इस प्रकार यहाँ न कोई अपेक्षाभेद है और न अस्तित्व का कोई स्थान ही है ।

सप्तभंगी मे पदार्थो के अस्तित्व से इन्कार नही किया गया है, सिर्फ उसके स्वरूप की नियतता प्रदर्शित करने के लिए यह दिखलाया गया है कि वह पर-रूप मे नहीं है। सप्तभंगीवाद हमें सतरंगी पुष्पों से सुशोभित विचारवाटिका में विहार कराता है, तो बौद्धों का निषेधवाद पदार्थो के अस्तित्व को अस्वीकार कर के शून्य के घोर एकान्त अन्धकार मे ले जाता है। अनुभव उसको कोई आधार प्रदान नही करता है । अतएव यह स्पष्ट है कि सप्तभगी का बौद्धो के चतुष्कोटिनिषेध के साथ लेशमात्र भी सरोकार नही है ।

स्याद्वाद संशयवाद नही :

जैनदर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है ।[31] अनन्त धर्मात्मकता के विना किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना

३०. नासन्नसन्न सदसन्न नाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त, तत्त्व माध्यमिका विदु. ॥

३१. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वं,
अतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
—अन्ययोग व्यवच्छेद द्वा०, त्रिशिका

ही सम्भव नही है। किन्तु एक साथ अनन्त धर्मों का निर्वचन नही हो सकता। दूसरे धर्मों का विधान और निषेध न करते हुए किसी एक धर्म का विधान करना ही स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। अमुक अपेक्षा से घट सत् ही है और अमुक अपेक्षा से घट असत् ही है, यह स्याद्वाद है। इसमे यह प्रदर्शित किया गया है कि स्वचतुष्टय से घट की सत्ता निश्चित है और परचतुष्टय से घट की असत्ता निश्चित है। इस कथन में सशय को कोई स्थान नही है। किन्तु 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को देखकर, स्याद्वाद की गहराई में न उतरने वाले कुछ लोग, यह भ्रमपूर्ण धारणा बना लेते हैं कि स्याद्वाद अनिश्चय की प्ररूपणा करता है।

वस्तुत 'स्यात्' शब्द का अर्थ न 'शायद' है, न 'सम्भवत' है और न 'कदाचित्' जैसा ही है। वह तो एक सुनिश्चित सापेक्ष दृष्टिकोण का द्योतक है। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—'अनेकान्तवाद सशयवाद नही है।' परन्तु वे उसे 'सम्भवत' अर्थ में प्रयुक्त करना चाहते हैं, मगर यह भी सगत नही है।

शकराचार्य ने अपने भाष्य में स्याद्वाद को सशयवाद कहकर जो भ्रान्त धारणा उत्पन्न की थी, उसकी परम्परा अब भी बहुत अशो में चल रही है। किन्तु प्रोफेसर फणिभूषण अधिकारी ने आचार्य शकर की धारणा के सम्बन्ध में लिखा है—"जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना अन्य किसी भी सिद्धान्त को नही। यहाँ तक कि शकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नही है। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय ही किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषो के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पडता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थो के अध्ययन की परवाह नही की।"

स्पष्ट है कि स्याद्वाद सशयवाद नहीं है। सभी दर्शन किसी न किसी रूप में इसे स्वीकार करते हुए भी इसका नाम लेने में हिचकते है।

—

पाश्चात्य विद्वान् थामस का यह कथन ठीक ही है कि—"स्याद्वाद सिद्धान्त बड़ा गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। वस्तुत. स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। दार्शनिक क्षेत्र मे स्याद्वाद को सम्राट् का रूप दिया गया है। स्यात् शब्द को एक प्रहरी के रूप मे स्वीकार करना चाहिए, जो उच्चारित धर्म को इधर-उधर नही जाने देता है। यह अविवक्षित धर्मो का संरक्षक है, संशयादि शत्रुओ का संरोधक व भिन्न दार्शनिको का संपोषक है।

जिन दार्शनिको की भाषा स्याद्वादानुगत है, उन्हे कोई भी दर्शन भ्रमजाल के चक्र मे नही फँसा सकता।

एकबार भगवान् महावीर के समक्ष प्रश्न उपस्थित हुआ, साधु को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए? उत्तर मे भगवान् ने कहा—साधु को विभज्यवाद[32] का प्रयोग करना चाहिए। टीकाकार ने विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद किया है। क्या संशयात्मक वाणी का प्रयोग करके कोई दर्शन जीवित रह सकता है?

विरोध का निराकरण

शंकराचार्य ने अपने शांकरभाष्य मे स्याद्वाद के निरसन का प्रयत्न करते हुए यह भी कहा है—शीत और उष्ण की तरह एक धर्मी मे परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्व आदि धर्मों का एक साथ समावेश नही हो सकता।[33] किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप को जिसने समझ लिया है, उसके समक्ष यह आरोप हास्यास्पद ही ठहरता है। आचार्य से यदि प्रश्न किया गया होता—'आप कौन है?' तो वे

---

३२. भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा।

—सूत्रकृतांग, १।१४।२२

३३. न हि एकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत्।

—शांकरभाष्य,

उत्तर देते—'मै सन्यासी हूँ।' पुन प्रश्न किया जाता—'आप गृहस्थ हैं या नहीं ?' तो वे कहते—'मैं गृहस्थ नहीं हूँ।' अब तीसरा प्रश्न उनसे यह किया जाता—आप 'हूँ' भी और 'नहीं हूँ' भी कहते है, इस परस्पर विरोधी कथन का क्या आधार है ? तब आचार्य को अनन्यगत्या यही कहना पडता—सन्यासाश्रम की अपेक्षा हूँ, गृहस्थाश्रम की अपेक्षा नहीं हूँ, इस प्रकार अपेक्षाभेद के कारण मेरे उत्तरो मे विरोध नहीं है।

बस, यही उत्तर स्याद्वाद है। सत्त्व और असत्त्व धर्म यदि एक ही अपेक्षा से स्वीकार किये जाएँ तो परस्पर विरोधी होते हैं, किन्तु स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व स्वीकार करने मे किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसे—मैं सन्यासी हूँ और सन्यासी नहीं हूँ, यह कहना विरुद्ध है, किन्तु मैं सन्यासी हूँ, गृहस्थ नहीं हूँ, ऐसा कहने मे कोई विरोध नहीं है।

नयवाद

नयवाद को स्याद्वाद का एक स्तम्भ कहना चाहिए। स्याद्वाद जिन विभिन्न दृष्टिकोणो का अभिव्यजक है, वे दृष्टिकोण जैन परिभाषा मे नय के नाम से अभिहित होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के उन अनन्त धर्मों मे से किसी एक धर्म का बोधक अभिप्राय या ज्ञान नय है।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मों का ग्राहक होता है और नय एक धर्म का[३४]। किन्तु एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मों का न निषेध करता है और न विधान ही करता है। निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है।[३५] विधान करने पर प्रमाण की कोटि मे परिगणित हो जाता है। नय, प्रमाण और अप्रमाण दोनो से भिन्न प्रमाण का एक अश है, जैसे समुद्र का अश न समुद्र है, न असमुद्र है,

---

३४ अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण तदशधी ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निराकृति ॥

३५ स्वाभिप्रेतादशादितराशापलापी पुनर्नयाभास ।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक, वादिदेव ।

वरन् समुद्रांश है।[३६] नय का ग्राह्य भी वस्त्वंश ही होता है। विश्व के सभी एकान्तवादी दर्शन एक ही नय को अपने विचार का आधार बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एकांगी होता है। वे भूल जाते हैं कि दूसरे दृष्टिकोण से विरोधी प्रतीत होने वाला विचार भी संगत हो सकता है। इसी कारण वे एकांगी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं और वस्तु के समग्र स्वरूप को स्पर्श नहीं कर पाते। वे सम्पूर्ण सत्य के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। नयवाद अनेक दृष्टिकोणों से वस्तु को निरखने परखने की कला सिखलाता है।

बौद्धदर्शन वस्तु के अनित्यत्व धर्म को स्वीकार करके द्रव्य की अपेक्षा पाये जाने वाले नित्यत्व धर्म का निषेध करता है। सांख्यदर्शन नित्यत्व को अंगीकार करके पर्याय की दृष्टि से विद्यमान अनित्यत्व धर्म का अपलाप करता है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन अपने-अपने एकान्त पक्ष के प्रति आग्रहशील होकर एक-दूसरे को मिथ्या कहते हैं। वे नहीं जानते कि दूसरे को मिथ्यावादी कहने के कारण वे स्वयं मिथ्यावादी बन जाते हैं। अगर उन्होंने दूसरे को सच्चा माना होता तो वे स्वयं सच्चे हो जाते, क्योंकि वस्तु में द्रव्यतः नित्यत्व और पर्यायतः अनित्यत्व धर्म रहता है।

इस प्रकार नयवाद द्वैत-अद्वैत, निश्चय-व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, काल-स्वभाव-नियति यदृच्छा-पुरुषार्थ आदि वादों का सुन्दर और समीचीन समन्वय करता है।

नयवाद दुराग्रह को दूर करके दृष्टि को विशालता और हृदय को को उदारता प्रदान करता है। वह वस्तु के विविध रूपों का विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—"हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार विविध रसों द्वारा सुसंस्कृत लोह स्वर्ण आदि धातु पौष्टिकता और स्वास्थ्य आदि अभीष्ट फल प्रदान करती है, उसी प्रकार 'स्यात्' पद से अंकित आपके नय

---

३६. नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि।
नायं वस्तु न चावस्तु, वस्त्वंशो कथ्यते बुधैः ॥
—श्लोकवार्त्तिक, विद्यानन्दि,

मनोवाछित फल के प्रदाता हैं, अतएव हितैषी आर्य पुरुष आपको नमस्कार करते है।

कहा जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की प्रक्रिया निरन्तर चालू है। स्वर्णपिण्ड से एक कलाकार घट बनाता है। फिर उस स्वर्णघट को तोडकर मुकुट बनाता है। यहाँ प्रथम पिण्ड के विनाश से घट की और घट के विनाश से मुकुट की उत्पत्ति होती है, मगर स्वर्णद्रव्य सब अवस्थाओ मे विद्यमान रहता है।[३७] यह द्रव्य से नित्यता और पर्याय से अनित्यता है। जिसने दूध ही ग्रहण करने का नियम अगीकार किया है वह दधि नही खाता। दधि खाने का नियम लेने वाला दूध का सेवन नही करता। किन्तु गोरस का त्याग कर देने वाला दोनो का सेवन नही करता।[३८] इससे स्पष्ट है कि दुग्ध का विनाश, दधि की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता होने से वस्तु का पर्याय से उत्पाद विनाश होने पर भी द्रव्य मे ध्रौव्य रहता है। इस उदाहरण से वस्तु की सामान्यविशेषात्मकता भी प्रमाणित हो जाती है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु के दो मुख्य अश है—द्रव्य और पर्याय। अतएव द्रव्य को प्रधान रूप मे ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण द्रव्यार्थिक नय और पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय कहलाता है। यद्यपि वस्तुगत अनन्त धर्मों को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनन्त होते हैं, और इस कारण नयो की सख्या का अवधारण नही किया जा सकता,[३९] तथापि उन सब का समावेश

---

३७ घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक प्रमोद माध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम् ॥
—आचार्य समन्तभद्र,

३८ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रत ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥
—आचार्य समन्तभद्र,

३९ जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुति नयवाया ।
—सन्मतितर्क, आचार्य सिद्धसेन

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो नयों मे ही हो जाता है। जिस दृष्टिकोण में द्रव्य की प्रधानता हो वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जिसमे पर्याय की मुख्यता हो वह पर्यायार्थिक नय है।[४०] जैन साहित्य मे नयविषयक अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। अधिक जानकारी के लिए पाठकों को उन ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। विस्तार-भय से यहां अधिक नही लिखा गया है।



४०. व्यासतोऽनेकविकल्पः। समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।
—प्रमाणनयतत्त्वालोक अ० ७।४।५

पाँच | धर्म का मूल : सम्यग्दर्शन

धर्म का मूल क्या है ? यह एक गम्भीर प्रश्न रहा है, और इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न विचारकों ने दिया है। कहीं पर दया को धर्म का मूल बताया है।[1] कहीं पर विनय को धर्म का मूल कहा है[2]। और कहीं पर दर्शन को धर्म का मूल कहा है।[3] अपेक्षा दृष्टि से सभी कथन सत्य हैं। दया में चारित्रसम्बन्धी सभी नियमों का समावेश हो जाता है। विनय का अर्थ यहाँ नम्रता नहीं किन्तु सदाचार ही है। सदाचार सम्यग्दर्शनमूलक होता है। इस प्रकार धर्म के मूल में शब्दभेद होने पर भी आशयभेद नहीं है। तथापि गहराई से चिन्तन किया जाय तो यह स्पष्ट हुए बिना।

---

१ दयामूलो भवेद्धर्मो दयाप्राण्यनुकम्पनम्।

—महापुराण जिनसेन २१।५।६२

(ख) दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

—संत तुलसीदास

२ एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।

—दशवैकालिक ६।२।२

किं मूलए धम्मे ?

सुदंसणा, विणयमूले धम्मे।

—ज्ञातासूत्र ५

३ दंसणमूलो धम्मो।

—कुन्दकुन्दाचार्य

रहेगा कि धर्म का मूल वस्तुतः सम्यग् दर्शन ही है, क्यों कि सम्यग्-दर्शन के अभाव में दया सही दया नही है और विनय सही विनय नही है।[४]

सम्यग्दर्शन का अर्थ है विशुद्धदृष्टि। पाश्चात्य विचारक आर० विलियम्स के शब्दों में—जिन द्वारा बताए गए मोक्ष मार्ग मे श्रद्धा सम्यक्त्व है।[५] आचार्य वसुनन्दिन् के अनुसार आप्त, आगम और तत्त्व—पदार्थ इन तीनों मे श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।[६] पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतराग पुरुप आप्त कहलाता है। उसकी वाणी आगम और उसके द्वारा उपदिष्ट पदार्थ-तत्त्व है।

श्रावकपंचाचार वृत्ति के अनुसार—तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट सत्यों मे श्रद्धा सम्यक्त्व है।[७]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार– सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे श्रद्धा सम्यक्त्व है।[८]

आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे 'व्यवहार नय से जीवादि तत्त्वो का

---

४. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।
—उत्तराध्ययन २८।३०

५ आर० विलियम्सः 'जैन योग', प्रकाशक ओ० यू० प्रेस लन्दन १९६३ पृ० ४१।

६. अत्तागमतच्चाणं, जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोसरहिय, तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार गा० ६

७. सव्वाइ जिणेसरभासिआइं, वयणाइं नन्नहा हुंति।
इअ बुद्धि जस्स मणे सम्मत्तं निच्चलं तस्स।
—श्रावक पंचाचार वृत्ति, गा० ३

८. या देवे देवताबुद्धि, गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥
—योगशास्त्र, प्र० ३।२ श्लोक

का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, किन्तु निश्चय नय से आत्मा का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।[९]

उमास्वाति के शब्दो मे 'तत्त्वरूप पदार्थों की श्रद्धा अर्थात् दृढ प्रतीति सम्यग्दर्शन है।'[१०]

आधारभूत तथ्य को तत्त्व कहते हैं। स्थानाङ्ग[११] और उत्तराध्ययन[१२] आदि मे तत्त्व के नो भेद किये हैं—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य, (४) पाप (५) आस्रव (६) सवर (७, निर्जरा (८) वध (९) मोक्ष।

उमास्वाति व आचार्य हेमचन्द्र ने तत्त्व के सात भेद किये है[१३]—(१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) वन्ध (५) सवर (६) निर्जरा (७) और मोक्ष। पुण्य और पाप को उन्होने आस्रव के अन्तर्गत गिना है।

---

९ जीवादीसद्दहण सम्मत्त, जिणवरेहिं पण्णत्त।
ववहाराणिच्छयदो, अप्पाण हवइ सम्मत्त ॥

—दशन पाहुड २०

१० तत्त्वाथ श्रद्धान सम्यगदशनम्।

—तत्त्वाथ सूत्र १।२

(क) उत्तराध्ययन २८।१८

११ स्थानाङ्ग ६६५

१२ जीवा जीवा य बधो य, पुण्ण पावाऽसवो तहा।
सवरो निज्जरा मोक्खो, सतेए तहिया नव ॥

—उत्तराध्ययन २८।१४

(ख) जीवाजीवा भावा, पुण्ण पाव च आसव तेसिं।
सवरणिज्जरबधो, मोक्खो य हव ति त अट्ठा ॥

—पचास्तिकाय २।१०८

१३ जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

—तत्त्वाथसूत्र १।४

(ग) जीवाजीवाश्रवाश्चैव, सवरो निजरा तथा।
बधो मोक्षश्चेति सप्त, तत्त्वान्याहुमनीषिण ॥

—सप्ततत्त्वप्रकरणम् आचाय हेमचन्द्र

संक्षेप दृष्टि से तत्त्व के दो भेद है। एक जीव और दूसरा अजीव।[१४] जीव का लक्ष्य शिव है, किन्तु उसका बाधक तत्त्व अजीव है। जीव शिव बनना चाहता है, पर अजीव तत्त्व जीव में पय-पानीवत् घुल-मिल जाने के कारण जीव अपना शुद्ध स्वरूप पहचान नही पाता। वह अनादि अनन्त काल से अपने अशुद्ध रूप को ही शुद्ध रूप समझने की भयंकर भूल कर रहा है। अपने आपको शुद्ध चैतन्यस्वरूप न मान कर शरीर से, इन्द्रियों से, मन से, कर्मोदयजनित मनुष्यपर्याय आदि से अभिन्न समझना मिथ्या है।

इसे ही जैन दार्शनिको ने मिथ्यात्व कहा है।[१५] रात्रिसंबंधी अन्धकार को दूर किये विना जैसे सहस्ररश्मि सूर्य उदित नही होता वैसे ही मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट किये विना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता।[१६] जब आत्मा मे सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है तब वह आत्मा जीव और अजीव का पृथक्त्व समझता है। मैं जड़ नही चेतन हूँ! मेरा स्वरूप शुद्ध चेतना है। मुझ मे राग, द्वेष आदि की जो विकृति है वह जड़ के संसर्ग से है। मैं सम्प्रति कर्मो से बद्ध हूँ, किन्तु कर्मो को

---

१४. (क) जीवरासी चेव अजीवरासी चेव।

—स्थानाङ्ग २।४।९५

(ख) दुवे रासी पन्नत्ता, तं जहा जीवरासी चेव अजीवरासी चेव।

—समवायांग २।१४९

(ग) जीवा चेवा अजीवा य, एस लोए वियाहिए ॥

—उत्तराध्ययन

(घ) पन्नवणा दुविहा पन्नत्ता—तं जहा
जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य ॥

—पन्नवणा-१

१५. मिथ्या विपरीता दृष्टिर्यस्य स मिथ्यादृष्टि.

—कर्मग्रन्थ टीका० २

१६. अनिर्द्धूय तमो नैश; यथा नोदयतेऽशुमान्।
तथानुद्भिद्य मिथ्यात्वतमो नोदेति दर्शनम् ॥

—महापुराण, ११९।९।२००

नष्ट कर एक दिन मैं अवश्य ही मुक्त बनूंगा।' इस प्रकार की निष्ठा उसके अन्तर्मानस में जागृत होती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के दो कारण हैं—एक नैसर्गिक और दूसरा आधिगमिक।[१७] निसर्ग का अर्थ स्वभाव है। जब कर्मों की स्थिति कम होते-होते एक कोटाकोटी सागरोपम से भी कम रह जाती है और दर्शनमोह की तीव्रता में कमी आ जाती है, तब परोपदेश के बिना ही जो तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है—यथार्थ दर्शन होता है,—वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।

श्रवण, मनन, अध्ययन या परोपदेश से सत्य के प्रति जो निष्ठा जागृत होती है, वह आधिगमिक सम्यग्दर्शन है। प्रस्तुत भेद बाह्य निमित्तविशेष के कारण ही है। दर्शनमोह का विलय जो अन्तरंग कारण है, वह दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में अनिवार्य है।

एक यात्री यात्रा के लिए चला। पथभ्रष्ट हो गया इतस्ततः परिभ्रमण करता हुआ स्वतः पथ पर आगया, यह नैसर्गिक पथलाभ हुआ।

दूसरा यात्री यात्रा के लिए चला। पथभ्रष्ट होकर इधर उधर भटकता रहा। पथदर्शक से पथ पूछ कर पथ पर आरूढ़ हुआ, यह आधिगमिक पथ-लाभ हुआ। ठीक इसी प्रकार नैसर्गिक और आधिगमिक सम्यग्दर्शन है।

आचार्य जिनसेन के अभिमतानुसार देशनालब्धि और काललब्धि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बहिरंग कारण हैं, तथा करण लब्धि अन्तरंग कारण है। जब दोनों की प्राप्ति होती है तभी भव्य जीव सम्यग्दर्शन का धारक होता है।[१८]

---

१७ तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

—तत्त्वार्थ सूत्र १।३

१८ देशनाकाललब्ध्यादि बाह्यकारणसम्पदि।
अन्तःकरणसामग्र्यां, भव्यात्मा स्याद् विशुद्धदृक्॥

—महापुराण, जिनसेन ११६।६।१९९

जब दर्शन मोह के परमाणुओ का पूर्ण उपशमन होता है तब औपशमिक सम्यक्त्व होता है। केवल विपाकोदय रुक कर प्रदेशोदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है और पूर्ण विलय (क्षय) होने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

यद्यपि प्राप्ति-क्रम के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत नही है, तथापि यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्व प्रथम क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। महापुराण[19] और कर्मग्रन्थ के अनुसार औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कितने ही आचार्य दोनों विकल्पों को मान्य करते है और कितने ही आचार्यो का यह भी अभिमत है कि क्षायिक सम्यक्दर्शन भी पहले पहल प्राप्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन का सादि अनन्त विकल्प इसका आधार है।

तत्त्वो के सही श्रद्धान से मिथ्यात्व का नाश होता है और सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। जो आत्मविकास का प्रथम सोपान है[20] जिससे श्रावक-धर्म या श्रमण-धर्म को ग्रहण करने के लिए क़दम आगे बढते है।[21]

सम्यग्दर्शन जीवन की अमूल्य निधि है। जिसे यह अमूल्य निधि प्राप्त हो जाती है वह भंगी भी देव है। तीर्थङ्करो ने उसे देव कहा

---

१९. क्षयाद् दर्शनमोहस्य, सम्यक्त्वादानमादितः।
जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलङ्ककलिलात्मनः ॥
—महापुराण, ११७।६।२००

२०. मोख महल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, जानो भव्य पवित्रा ॥
—पं० दौलतराम, छहढाला

(ख) दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते,
दर्शनं कर्णधार तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षवे।
—समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

२१. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥
—उत्तराध्ययन, अध्य० २८ गा० २९

है। राख से आच्छादित अग्नि का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है।[२२] मानवता का सार ज्ञान है और ज्ञान का आधार सम्यग्दर्शन है।[२३]

कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के पास सुदर्शन चक्र था, जिससे सम्पूर्ण शत्रुओं को पराजित करके त्रिखण्ड के अधिपति बन गये। आत्मारूपी कृष्ण के पास भी यदि सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र है तो वह भी कषाय रूपी शत्रुओं को पराजित कर एक दिन त्रिलोकीनाथ बन सकता है।

महापुरुषों के विचारों का यह निथरा हुआ निचोड़ है—धर्मरूपी मोती सम्यग्दर्शन रूपी सीपी में ही पनपता है।



---

२२ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार २८

२३ णाणं णरस्स सारो, सारो वि णाणस्स होइ सम्मत्तं।

—दर्शन पाहुड-गा० ३१

छह | साधना का मूलाधार

अध्यात्मसाधना में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र[1]—इन तीनों का गौरवपूर्ण स्थान है। दृष्टि की विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है[2] और ज्ञान की विशुद्धि से ही चारित्र निर्मल होता है।[3] अतः सन्त-संस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर ने साधना के कठोर कण्टकाकीर्ण महामार्ग पर बढ़ने के पूर्व दृष्टि-विशुद्धि की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है।[4] साधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान है, सम्यग्ज्ञान का द्वितीय और सम्यक् चारित्र का तृतीय है।[5]

सम्यग्दर्शन :

आत्मा को आत्मविस्मृति के गहन अन्धकार से निकालकर

---

१. तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तं जहा-णाणसम्मे, दंसणसम्मे चरित्तसम्मे।

—स्थानाङ्ग ३।४।११४

२. नादंसणिस्स नाणं,

—उत्तराध्ययन २८।३०

३. नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।

—उत्तराध्ययन २८।३०

४. जेयाऽबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होई सव्वसो॥

—सूत्रकृताङ्ग अ० ८ गा० २२

५. सम्मद्दंसण पढमं, सम्मनाणं विइज्जियं,
तइयं च सम्मचारित्तं, एगभूयमिमं तिगं।

—महानिशीथ, २

आत्म भाव के आलोक से आलोकित करने वाली विवेकयुक्त दृष्टि ही True Faith सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्म विकास की दृष्टि से किया गया जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष आदि तत्त्वो का यथार्थ श्रद्धान[६] सम्यग्दर्शन है।[७] श्रद्धा जीवन का सम्बल है। व्यावहारिक दृष्टि से 'जिन' की वाणी म, जिनके उपदेश मे, जिसको दृढ निष्ठा है[८], वही सम्यग्दर्शी है।

धम का मूल सम्यग्दर्शन है।[९] यदि मूल मे भूल है सम्यग्दर्शन का अभाव है, तो सभी क्रियाएँ ससार का क्षय न कर अभिवृद्धि ही करती है।[१०] सम्यग्दर्शी पाप का अनुबन्धन नही करता।[११] जो सम्यग्दर्शन से सपन्न है वह कम से बद्ध नही होता और जा सम्यग्दर्शनविहीन है वही ससार मे परिभ्रमण करता है।[१२] चारित्र

---

६ स्थानाङ्ग, ६

७ (क) तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसण।
भावेण सद्दहतस्स, सम्मत्त त वियाहिय ॥
—उत्तराध्ययन २८।१५

(ख) तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् ।
—तत्त्वार्थ सूत्र १।२

८ तमेव सच्च णीसक ज जिणेहि पवेइय।
—आचारांग, ५।१६३ उद्दे० ५

(ग) णिग्गथे पावयण अठ्ठे, अय परमठ्ठे, सेसे अणट्ठ।
—भगवती २।५

९ दसणमूलो धम्मो।
—दर्शन पाहुड

१० नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण।
—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २९

११ सम्मत्तदसी न करेइ पाव।
—आचाराग १।३।२

१२ सम्यग्दर्शनसम्पन्न, कर्मभि न निबद्धयते।
दर्शनेन विहीनस्तु, ससार प्रतिपद्यते ॥
—मनुसहिता, ६।७४

से भ्रष्ट व्यक्ति का निर्वाण सम्भव है, पर सम्यग्दर्शन से चलित आत्मा का निर्वाण असम्भव है।[13]

आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्यग्दर्शन की अपार महिमा गाई गई है। ज्ञातृ धर्मकथा में इसे रत्न की उपाधि प्रदान की गई है।[14] जिस साधक को इस 'चिन्तामणि' दिव्यरत्न की समुपलब्धि हो जाती है वह चाण्डाल भी देव है। तीर्थंङ्करों ने उसे देव माना है। राख से आच्छादित आग की तरह उसके अन्तरतर में ज्योतिपुञ्ज जाज्वल्यमान रहता है।[15]

सम्यग्दर्शी साधक आत्म-अभ्युदय के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता रहता है। वह कभी परिश्रान्ति का अनुभव नहीं करता। वह यथार्थ द्रष्टा होता है। उसके अन्तर्मानस में सत्य की जगमगाती ज्योति निरन्तर जलती रहती है। सत्य ही लोक में सारभूत है[16], सत्य ही भगवान् है।[17] सत्य भगवान् की आराधना साधना ही उसके जीवन का ध्येय होता है। सत्य की पर्युपासना करने वाले सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक् श्रुत बन जाते हैं।[18] सत्य

---

१३. दसणभट्ठा भट्ठा, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥

—षट्प्राभृत

१४. लपडिलद्धसम्मत्तरयणपडिलंभेणं....

—ज्ञातृ धर्मकथा, अ० १ सू० ४५

१५. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम् ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार २८

१६. सच्चं लोगम्मि सारभूयं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

१७, सच्चं खु भगवं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

१८. सम्मदिट्ठिस्स सुअं सुयनाणं,
मिच्छादिट्ठिस्स सुअं सुअ-अन्नाणं,

—नन्दीसुत्त

साधक राग द्वेषात्मक ससार से पार हो जाता है।[19] वह देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु बन्ध नही करता।[20] वह अवर्णनीय और अचिन्त्य आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। एक आचार्य के शब्दो म सम्यग्दर्शन यथार्थ मे बहुत सूक्ष्म है और वह वाणी से परे है।[21]

सम्यग्दर्शन शब्द मे विराट् अर्थ सन्निहित है। सम्यक्त्व, सच्चाई, हकीकत, रास्ती ट्रुथ, रहन, समत्व, योग, श्रद्धा आदि शब्दो से जो आशय निकलता है, उस सबका समावेश इसमे हो जाता है। प्राय सभी दर्शनो और विचारको ने सम्यग्दर्शन को अपनी अपनी परम्परा के अनुसार महत्त्व प्रदान किया है और उसे मुक्ति का मुख्य कारण माना है। समन्वयदृष्टि से चिन्तन करने पर सूर्य के उजाले की भाँति स्पष्ट परिज्ञान होता है कि भाषा मे अन्तर होने पर भी उनका भाव समान ही है।

गीता ने योग[22] को सम्यग्दर्शन कहा है तो न्यायदर्शन[23] ने तत्त्वज्ञान को। सांख्यदर्शन[24] ने भेदज्ञान को सम्यग्दर्शन माना है तो योगदर्शन[25] ने विवेकख्याति को। बौद्धदर्शन ने क्षणभगुरता और चार आर्य सत्यो का ज्ञान सम्यग्दर्शन स्वीकार किया है[26] तो वेदो ने ऋत को।

---

१६ सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मार तरइ।

—आचाराग

२० भगवती ३०।१

२१ सम्यक्त्व वस्तुत सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।

२२ समत्व योग उच्यते।

—गीता २।४८

२३ न्यायसूत्र ४।१।३०६

२४ साख्य कारिका ६४

२५ योग दर्शन १।१३

२६ बौद्ध दर्शन

यही सर्वोत्कृष्ट धर्म है और ज्ञानों मे श्रेष्ठ ज्ञान है।[३९] इस एक का परिज्ञान होने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता।[४०] इस आत्मविद्या के द्वारा राग-द्वेष की प्रहाणि की जाती है[४१] और यही सर्वोत्तम राजविद्या है।[४२] न्यायदर्शन मिथ्याज्ञान, मोह आदि को संसार का मूल मानता है[४३] और सांख्य दर्शन विपर्यय को।[४४] बौद्ध दर्शन अविद्या, राग-द्वेष को संसार का प्रधान कारण स्वीकारता है।[४५] जैन दृष्टि से साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का वही महत्त्व है जैसा सम्यग्दर्शन का है। ज्ञान प्रकाशक है।[४६] प्रथम ज्ञान और फिर चारित्र प्रादुर्भूत होता है।[४७]

सम्यक् चारित्र :

आत्मस्वरूप मे रमण करना और जिनेश्वरदेवों के वचनों पर

---

३९. (क) अयं तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्।

—याज्ञवल्क्य १।१।८

(ख) आत्मज्ञानं परं ज्ञानम्।

—महाभारत, शान्तिपर्व

४०. यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते।

—गीता ७।२

४१. आन्वीक्षिक्यात्मविद्या, स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः।
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं, हर्षशोकौ व्युदस्यति॥

—शुक्रनीति १।१५२

४२. राजविद्या राजगुह्यं, पवित्रमिदमुत्तमम्।

—गीता ९।२

४३. न्यायसूत्र ४।१-३-६

४४. सांख्य कारिका ६४।३

४५. बुद्ध वचन

४६. णाणं पयासयं।

—महानिशीथ ७

४७. पढमं णाणं तओ दया।

—दशवैकालिक ४

पूर्ण आस्था रखते हुए अच्छी तरह उन्ही के अनुरूप आचरण करना True Conduct सम्यक् चारित्र है।

ज्ञान नेत्र है, चारित्र चरण है। पथ का अवलोकन तो किया, पर चरण उस ओर नही बढे तो अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति असभव है। स्विनाक ने लिखा है—"बिना चारित्र के ज्ञान शीशे की आँख की तरह है, सिर्फ दिखलाने के लिए और एक दम उपयोगितारहित।" ज्ञान का फल विरक्ति है।[४८] ज्ञान होने पर भी यदि विषयो मे अनुरक्ति बनी रही तो वह वास्तविक ज्ञान नही है।

सम्यक् चारित्र जैन साधना का प्राण है। विभावगत आत्मा को पुन शुद्ध स्वरूप म अधिष्ठित करने के लिए सत्य के परिज्ञान के साथ जागरूक भाव से सक्रिय रहना आचार-आराधना है। चारित्र एक ऐसा चमकता हीरा है जो हर किसी पत्थर को घिस सकता है। जीवन का लक्ष्य सुख नही, चारित्र है।[४९] उत्तम व्यक्ति शब्दो से सुस्त और चारित्र से चुस्त होता है।[५०] बौद्ध साहित्य मे सम्यक चारित्र को ही सम्यक् व्यायाम कहा है।

समन्वय

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र—ये साधना के तीन अग हैं। अन्य दर्शनकार केवल साधना के एक एक अग को प्रमुखता देते हैं—किन्तु जैन दर्शनकार तीनो के समन्वय को। भगवान् श्री महावीर ने चार प्रकार के पुरुष बताए हैं—

एक शीलसम्पन्न है, श्रुतसम्पन्न नही।
दूसरा श्रुतसम्पन्न है, शीलसम्पन्न नही।
तीसरा शील सम्पन्न है, और श्रुत सम्पन्न है।
चौथा न शील सम्पन्न है, न श्रुत सम्पन्न है।

---

४८ ज्ञानस्य फल विरति
४९ बीचर
५० कन्फ्यूशियस

प्रथम व्यक्ति मोक्षमार्ग का देश आराधक है।[५१] दूसरा देश विराधक है।[५२] तीसरा सर्व आराधक है[५३], और चौथा सर्व विराधक है।[५४]

इस चतुर्भङ्गी मे भगवान् ने बताया कि कोरा शील कल्याण की एकागी आराधना है। कोरा ज्ञान भी इसी प्रकार का है। शील और ज्ञान दोनो ही नही है तो वह कल्याण की आराधना है ही नही। शील और ज्ञान दोनो की सगति है तो वह कल्याण की सर्वाङ्गीण आराधना है।[५५]

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान में हो जाती है। सातवें गुणस्थान तक वह अवश्य ही वह पूर्णता प्राप्त कर लेता है। सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें मे और सम्यक् चारित्र की पूर्णता चौदहवे गुणस्थान मे होती है। जब तीनों पूर्ण होते हैं तभी साध्य की सिद्धि होती है, अचिन्त्य अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।[५६] पूर्ण विद्या और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष है।[५७]



---

५१. भगवती ८।१०

५२ भगवती ८।१०

५३. भगवती ८।१०

५४. भगवती ८।१०

५५. भगवती ८।१०

५६. सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रयं यः सेवते कृती।
रसायनमिवातर्क्यं सोऽमृतं पदमश्नुते ॥

—महापुराण, पर्व ११ श्लोक० ५९

५७. आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं।

—सूत्रकृताङ्ग १।१२।११

सात | श्रमणसंस्कृति और तप

श्रमण संस्कृति तप प्रधान संस्कृति है। तप श्रमण संस्कृति का प्राण-तत्त्व है। जीवन की कला है। आत्मा की अन्तःस्फूर्त पवित्रता है, जीवन का आलोक है। तप की महिमा और गरिमा का जो गौरव-गान श्रमण संस्कृति ने गाया है, वह अनूठा है, अपूर्व है।

श्रमण संस्कृति का आधार श्रमण है। जैनागमों में अनेक स्थलों पर 'समण' शब्द व्यवहृत हुआ है जिसका अर्थ साधु है। 'श्रमण' शब्द के तीन रूप होते हैं—'श्रमण' 'समन' और 'शमन'। श्रमण शब्द श्रम धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—श्रम करना।

दशवैकालिक वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने तप का अपर नाम श्रम भी दिया है।[1] श्रमण का अर्थ तपस्या से खिन्न[2], क्षीण काय तपस्वी[3] किया है। जो व्यक्ति अपने ही श्रम से उत्कर्ष की प्राप्ति करता है वह श्रमण है।

---

१ श्राम्यन्तीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः।

—दशवैकालिक वृत्ति १।३

२ श्रम तपसि खेदे।

३ श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणः।

—सूत्रकृताङ्ग १।१६।१ शीलाङ्क टीका, पत्र २६३

श्रमण संस्कृति ने तप को धर्म माना है।[४] स्थानाङ्ग[५], समवायाङ्ग[६] में दश विध धर्म का जो उल्लेख है उसमे तप भी एक है। मोक्ष मार्ग की साधना करने वाले साधक के लिए तप की साधना अनिवार्य है।[७]

आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि श्रमण संस्कृति का श्रमण श्रमणत्व को स्वीकार कर तपः कर्म का आचरण करता है।[८] सभी तीर्थंकर तप के साथ ही प्रव्रज्या लेते हैं।[९] क्योंकि

---

४. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

—दशवैकालिक १।१

५. खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे।
संजमे तवे चियाए वंभचेरवासे॥

—स्थानाङ्ग ७१२

६. खंती य मद्दवज्जव, मुत्ती तव संजमे य वोद्धव्वे।
सच्चं सोय आकिंचणं च, वंभं च जइ-धम्मो॥

—समवायाङ्ग १०

७. नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥

—उत्तराध्ययन २८।३

८. जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं जहा उसभदत्तो तहेव पव्वइओ, णवरं पंचहिं पुरिससएहिं सद्धिं तहेव जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता वहूहिं चउत्थ छट्ठट्ठ मजाव मासद्धमासक्खमणेहि विचित्तेहि तवोकम्मेहिं अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

—भगवती ९।३३

(ख) भगवती २।१।९०६

९. सुमइत्थ णिच्चभत्तेण, णिग्गओ वासुपुज्ज चोत्थेणं।
पासो मल्ली य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं॥

—समवायाङ्ग सूत्र १९८

(ख) सुमइत्थ निच्चभत्तेण, निग्गतो वासुपुज्ज जिण चउत्थेण।
पासो मल्लीवि य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० २५०

तप मगल ही नही, उत्कृष्ट मगल है।[10] भगवान् श्री ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे तप की साधना की।[11] भगवान् श्री महावीर ने भी बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक उग्र तप तपा।[12] इस लम्बी अवधि मे उन्होंने केवल तीन सौ उनपचास दिन आहार ग्रहण किया।[13] शेष दिन वे निर्जल और निराहार रहे। आचाराग, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, त्रिपष्ठिशलाकापुरुष चरित्र, महावीर चरिय, प्रभृति ग्रन्थो मे भगवान् श्री महावीर के उग्र तप का जो रोमाचकारी वर्णन किया है उसे पढकर पाठक विस्मित हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु[14] के शब्दो मे अन्य तीर्थङ्करो की अपेक्षा महावीर का तप कर्म अत्युग्र था।

दिगम्बर आचाय गुणभद्र के अभिमत से सुमतिनाथ ने भी वेला के तप से दीक्षा ग्रहण की थी —

दीक्षा षष्ठोपवासेन सहेतुकवनेऽगृहीत।
सिते राज्ञा सहस्रेण सुमतिनवमीदिने॥

—उत्तर पुराण, पर्व ६१, श्लो० ७० प० ३०

१० दशवैकालिक १।१

११ उसभेण अरहा कोसलिए एग वाससहस्स निच्च वोसट्ठकाय चियत्तदेह जाव अप्पाण भावेमाणस्स एक्क वाससहस्स विइक्कत।

—कल्पसूत्र सू० १६६ प० ५८
(पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित)

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सू० ४०–४१ पृ० ८४।

१२ आवश्यक नियुक्ति गा० ५२६ स ५३५

(ख) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० २२७–२२६

(ग) त्रिपष्ठिशलाकापुरुष चरित्र १०।४।६५२–६५७

(घ) महावीर चरिय, गुणचन्द्र ७।१–८, प० २५०

१३ तिन्नि सए दिवसाण अउणापन्ने य पारणाकालो।

—आवश्यक नियुक्ति ५३४

१४ उग्ग च तवो कम्म, विसेसओ वद्धमाणस्स।

—आवश्यक नियुक्ति गा० २४०

भगवान् महावीर के जीवन का तलस्पर्शी अध्ययन करने पर नि.संकोच कहा जा सकता है कि वे तपोविज्ञान के अद्वितीय आचार्य थे। उन्होने अपने समय में प्रचलित देहदमनरूप वहिर्मुख तप का आन्तरिक साधना के साथ सामंजस्य स्थापित किया और उसे आन्तरिक एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार वे तप. साधना के महान् संस्कर्त्ता और साथ ही पुरस्कर्त्ता भी हुए। उनकी अनेक वहुमूल्य देनों में तपविषयक देन भी कम महत्त्व की नही है।

जैनागमों[१५] की तरह बौद्ध वाङ्मय में भी अनेक स्थलों पर महावीर के शिष्यो के लिए 'निगंठ' के साथ 'तपस्सी' 'दिग्घ तपस्सी' विशेषण प्रयुक्त हुए है।[१६] इससे भी स्पष्ट है कि महावीर स्वयं कितने उग्र तपस्वी रहे होगे। अनुत्तरौपपातिक[१७], अन्तकृत् दशा[१८], भगवती[१९] आदि आगमों मे महावीर के शिष्य और शिष्याओं का वर्णन है। उन्होने रत्नावली, कनकावली, मुक्तावली लघुसिंहनिष्क्रीडित, भिक्षु प्रतिमा, लघु सर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर प्रतिमा, आयंबिल वर्धमान, गुणरत्न संवत्सर, चन्द्र प्रतिमा, संलेखना आदि महान् तप करके देह को जर्जरित बनाया था।[२०] "तवसूरा अणगारा"+ अनगार तप में शूर होते है, यह जैन परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है।

---

१५. उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले घोरे घोरगुणे घोर तवस्सी।

—भगवती शतक १ उद्दे० ३

१६. मज्झिमनिकाय ५६ उपालिसुत्त २।१।६

१७. अनुत्तरौपपातिक वर्ग ३।

१८. अन्तकृत्दशा वर्ग ६, अ० ३, वर्ग ८, अ० १–१०

१९. भगवती २।१

२०. अन्तकृत्दशा।

+ खंतिसूरा अरिहन्ता, तवसूरा अणगारा।
दाणसूरे वेसमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे ॥

—ठाणाङ्ग ४।३।३९३

जैन श्रमण के लिए जहां ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न विशेषण प्रयुक्त हुए है वहा उसे तपसम्पन्न भी कहा गया है ।[21]

तप जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ है। तप की उत्कृष्ट आराधना साधना से तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है। सभी तीर्थङ्करो ने अपने पूर्व भवो मे तप की साधना की। श्रमण भगवान् श्री महावीर के जीव ने 'नन्दन' के भव मे एक लक्ष वर्ष तक निरन्तर मासखमण की तपस्या की।[22] उन मासखमणो की सख्या ग्यारह लाख साठ हजार थी।

वैदिक सस्कृति ने भी साधक के लिए तप की साधना आवश्यक मानी है।[23] योग दर्शन ने तप को क्रियायोग मे स्थान दिया है।[24]

---

२१ भगवती ।

२२ सयसहस्स सव्वत्थ मासभत्तेण ।

—आवश्यक नियुक्ति, गा० ४५०

(ख) एक्कारस अगाइ अहिज्जित्ता तत्थ मास मासेण खममाणो एग वाससहस्स परियाग पाउणित्ता—

—आवश्यक चूर्णि प० २३५

जिनदासगणी महत्तर

(ग) सयसहस्स त्ति वर्षशतसहस्र यावदिति । क्व ? सवत्र मासभक्तेनेति अनवरतमासोपवासेनति ।

—आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प० २५२

(घ) तत्र वर्पलक्ष सवदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा ।

—समवायाङ्ग, अभयदेव वृत्ति १३६

(ड) मासोपवासै सतत श्रामण्य स प्रकुर्वन् ।
व्यहार्षीद्गुरुणा साध ग्रामाकरपुरादिषु ॥

—त्रिषष्टि० १०।१।२२१

२३ शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा ।

—योगदर्शन २।३२

२४ तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग ।

—योगदर्शन २।१

उपनिषद्,[२५] गीता,[२६] और मनुस्मृति[२७] ने भी तप और स्वाध्याय पर पर वल दिया है। किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक संस्कृति की तपः साधना में और जैन सस्कृति की तपः साधना मे महान् अन्तर है।

जैन सकृति ने तप को दो भागो मे विभक्त किया है—एक वाह्य तप और दूसरा आभ्यन्तर तप।[२८]

---

२५. स तपोऽतप्यत।

—वृहदारण्यक १।२।६

(ख) तपस्तप्यते वहूनि वर्षसहस्राणि।

—वृहदारण्यक ३।८।१०

(ग) यज्ञेन दानेन तपसा।

—वृहदारण्यक ४।४।२२

(घ) तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च

—तैत्तिरीय उपनिषद् १।६।१

२६. श्रद्धया परया तप्त तप.

—गीता १७।१७

२७. क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वासो, दानेनाऽकार्यकारिण.।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥

—मनुस्मृति ५।१०६

(ख) अद्भिर् गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मन. सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्या भूतात्मा, वुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

—मनुस्मृति ५।१०८

(ग) तपश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्।

—मनुस्मृति ६।७५

(घ) तपो विद्या च विप्रस्य, नि.श्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विपं हन्ति, विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

—वही १२।१०४

२८. सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भन्तरो तहा।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो॥

—उत्तरा० ३०।७

जिस तप मे शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है और जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षायुक्त होने से दूसरो को दृष्टिगोचर होता है वह बाह्य तप है। और जिस तप म मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है, अन्तर्वृत्तियो की परिशुद्धि मुख्य होती है और जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरो को भी नहीं दीखता है, वह आभ्यन्तर तप है।[२९]

बाह्य तप के छह भेद है[३०]—

(१) अनशन—आहार, जल आदि का एक दिन, या अधिक दिन अथवा जीवन पयन्त के लिए त्याग करना अनशन है। इत्वरिक—अल्पकालिक और यावत्कथिक-यावज्जीवित, ये मुख्य रूप से दो भेद

---

२९ बाह्यतप—बाह्यशरीरस्य परिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति, आभ्यन्तर—चित्तनिरोधप्राधान्येन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति।

—समवायाङ्ग सम० ६ की अभयदेव वृत्ति

(ख) अब्भितरए—अभ्यन्तरम्—आन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च, 'बाहिरए' त्ति बाह्यस्यैव शरीरस्य तापनान्मिथ्यादृष्टिभिरपि तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्चेति।

—औपपातिक सूत्र ३० की अभयदेव वृत्ति

(ग) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् कथमस्याभ्यन्तरत्वम्? मनोनियमनार्थत्वात्।

—तत्त्वार्थसूत्र ६।१९–२०, सर्वार्थसिद्धि

३० अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ॥

—उत्तराध्ययन ३०।८

(ग) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तप।

—तत्त्वार्थसूत्र० अ० ६, सू० १९

(ग) मूलाचार—वट्टकेर ३४६

(घ) ठाणाङ्ग ६। सू० ५११

(ङ) प्रवचनसारोद्धार गाथा २७०–२७२

है। इत्वरिक तप अवकांक्षासहित होता है और यावत्कथिक अवकांक्षा रहित होता है।[31] इन दोनों के भी अनेक भेद प्रभेद है।

(२) ऊनोदरिका—आगम साहित्य मे ऊनोदरिका[32], अवमोदरिका[33] और अवमौदर्य[34] ये तीन नाम उपलब्ध होते है। आहार की मात्रा से कम खाना, कुछ भूखा रहना, कषायों को कम करना, उपकरणों को कम करना ऊनोदरिका है। मुख्य रूप से ऊनोदरिका तप के तीन भेद है—(१) उपकरण अवमोदरिका, (२) भक्त पान अवमोदरिका (३) और भाव अवमोदरिका।[35] इन तीनों के भी अनेक भेद प्रभेद प्रतिपादित किये गये है।[36]

(३) भिक्षाचर्या— स्थानाङ्ग, भगवती, उत्तराध्ययन और औपपातिक मे प्रस्तुत नाम प्राप्त है और समवायांग,[37] व तत्त्वार्थ सूत्र[38] मे

---

३१. इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकंखा निरवकंखा उ विइज्जिया॥
—उत्तराध्ययन ३०।९

३२. समवायाङ्ग सम० ६
(ख) भगवती २५।७
(ग) उत्तराध्ययन ३०।८

३३. (क) स्थानाङ्ग ३।३।१८२
(ख) औपपातिक ३०
(ग) भगवती २५।७

३४. (क) उत्तराध्ययन ३०।१४,२३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ९।१९

३५. तिविहा ओमोयरिया प० तं० उवगरणोमोयरिया, भत्तपाणोमोदरिता, भावोमोदरिता। —स्थानाङ्ग ३।३।१८२

३६. औपपातिक ३०
(ख) भगवती २५।७
(ग) ठाणाङ्ग ३।३।१८२
(घ) उत्तराध्ययन ३०

३७. समवायाङ्ग, सम० ६

३८. तत्त्वार्थ सूत्र १९।१९

इसे 'वृत्ति सक्षेप' और 'वृत्तिपरिसख्यान' कहा है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा का कम करना वृत्तिसक्षेप है।[39] अर्थात् जीवन निर्वाह के साधनो का सयम करना। औपपातिक[40] और भगवती[41] मे इसके तीन भेदो का उल्लेख है। स्थानाङ्ग[42] मे उनके अतिरिक्त दो भेदो का और उल्लेख किया है तथा उत्तराध्ययन[43] मे भी अन्य भेदो का निरूपण है।

(४) रसपरित्याग—घृत, दूध, दही, मक्खन आदि रसो का परित्याग करना,[44] तथा प्रणीत पान भोजन का वर्जन करना। उमास्वाति ने मद्य, मास, मधु और मक्खन आदि जो रस विकृतियाँ हैं उनका प्रत्याख्यान तथा विरस आदि का अभिग्रह रस

(ख) दशवैकालिक नियुक्ति गा० ४७

३९ भिक्षाचर्या सर्वे तपो निर्जराङ्गत्वादनशनवद् अथवा सामान्योपादानेऽपि विशिष्टा विचित्राभिग्रहयुक्तत्वेन वृत्तिसक्षेपरूपा सा ग्राह्या।

ठाणाङ्ग ५।१।५१ वृत्ति

४० औपपातिक सम० ३०

४१ भगवती २५।७

४२ ठाणाङ्ग ५।१।३९६

४३ अट्ठविहगोयरग्ग तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

—उत्तरा० ३०।२५

४४ खीरदहिसप्पिमाई पणीय पाणभोयण,
परिवज्जण रसाण तु भणिय रसविवज्जण।

—उत्तरा० ३०।२६

(ख) घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तप।

—तत्त्वार्थ० ९।१९ सर्वार्थसिद्धि

परित्याग तप माना है।[४५] इसके भी औपपातिक में नौ भेद बताये है।[४६]

(५) कायक्लेश—आसन, आतापना, विभूषा-वर्जन और परिकर्म के द्वारा शरीर को स्थिर करना कायक्लेश तप है।[४७] इसके आगमो मे कही पर सात,[४८] कही पर दस[४९] और कही पर बारह भेद[५०] निरूपित किये गये हैं।

(६) प्रतिसलीनता—मन और इन्द्रियो को अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करना, अनुदीर्ण क्रोधादि कषायों का निरोध करना तथा उदय मे आये हुए को विफल करना और स्त्री-पशु नपुंसक रहित एकान्त शान्त स्थान मे निवास करना प्रति-संलीनता तप है।

यह (१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता (२) कषाय प्रति सलीनता, (३) योग

---

४५. रसपरित्यागोऽनेकविधः। तद्यथा—मांसमधुनवनीतादीनां मद्यरस-विकृतीनां प्रत्याख्यानं विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च।

—तत्त्वार्थ० ९।१९ भाष्य

४६. से किं तं रस परिच्चाए? अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—निव्वीइए, पणीयरसपरिच्चाए (३) आयंबिलिए (४) आयामसित्थभोई (५) अरसाहारे, (६) विरसाहारे, (७) अन्ताहारे (८) पन्ताहारे, (९) लूहाहारे।

—औपपातिक, सम० ३०

४७. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेस तमाहिय॥

—उत्तरा० ३०।२७

४८. ठाणाङ्ग ७।३।५५४

४९. ठाणाङ्ग ५।१।३९६

५०. औपपातिक, सम० ३०

(ख) भगवती २५।७ मे भी कायक्लेश के अनेक भेद बताये है।

प्रतिसलीनता (४) विविक्तशयनासनसेवनता के रूप मे चार प्रकार का है। और इनके भी अनेक उपभेद हैं।[51]

आभ्यन्तर तप के भी छह भेद ह—[52]

(७) प्रायश्चित्त—पूर्वकृत दोषो की आलोचना कर आत्मविशुद्ध्यर्थ प्रायश्चित ग्रहण करना।[53] प्रायश्चित्त पाप का छेदन करता है और चित्त को विशुद्ध करता है।[54]

प्रायश्चित्त तप के भी दस भेद है—(१) आलोचनार्ह (२) प्रतिक्रमणार्ह (३) तदुभयार्ह (४) विवेकार्ह (५) व्युत्सर्गार्ह (६) तपार्ह (७) छेदार्ह (८) मूलार्ह (९) अनवस्थाप्यार्ह (१०) पाराचितार्ह।[55]

---

५१ इंदियकसायजोगे, पडुच्च सलीणया मुणेयव्वा।
तह जा विवित्तचरिया, पन्नत्ता वीयरागेहि॥
—उत्तरा० ३०।२८ नेमिचन्द्रीय टीका मे उद्धृत

५२ पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो॥
—उत्तराध्ययन ३०।३०

(ख) प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।
तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९ सू० २०

(ग) स्थानाङ्ग ६ सू० ५५१

(घ) मूलाचार वट्टकेर गा० ३६०

(ङ) प्रवचन सारोद्धार गा० २७० ७२

५३ आलोयणारिहाईय पायच्छित्त तु दसविह।
ज भिक्खू वहइ सम्म पायच्छित्त तमाहिय॥
—उत्तरा० ३०

५४ पाप छिनत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्,
प्रायेण वापि चित्त विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम्।
—दशवैकालिक १।१ हारिभद्रीया वृत्ति मे उद्धृत

५५ आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे,
तवछेअमूलअणवट्टया य पारचिए चेव।
—दशवैकालिक १।१ हारिभद्रीया वृत्ति म उद्धृत

(८) विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आदि सद्गुणों मे बहुमान रखना विनय है। विनय के सात प्रकार है—(१) ज्ञान का विनय, (२) श्रद्धा का विनय (३) चारित्र का विनय (४) मन-विनय (५) वचन-विनय (६) काय-विनय और (७) लोकोपचार विनय।[५६] इनके भी फिर अनेक भेद प्रभेद है।[५७]

(९) वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्षक, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु आदि की आहार आदि के द्वारा सेवा करना।[५८]

(१०) स्वाध्याय—विधिपूर्वक आत्म-विकासकारी अध्ययन

(ख) औपपातिक, सम० ३०
(ग) स्थानाङ्ग ७३३
(घ) भगवती शतक २५ उ० ७
(ङ) व्यवहार भाष्य गा० ५३ पृ० २०

५६. (क) भगवती २५।७
(ख) ठाणाङ्ग–५८५
(ग) औपपातिक
(ग) धर्म सग्रह अध्ययन ३, व्रतातिचार प्रकरण
(ङ) णाणे दंसणचरणे मणवइकाओवयारिओ विणओ।
णाणे पंचपगारो मइणाणाईण सद्दहणे ॥
भत्ती तह बहुमाणो तद्दिट्ठत्थाण सम्मभावणया।
विहिगहणब्भासोवि अ एसो विणओ जिणाभिहिओ ॥
—दशवैकालिक १।१ हारिभद्रीया वृत्ति में

५७. (क) भगवती २५।७
(ख) ठाणाङ्ग ७।३।५८५
(ग) दशवै० हारि० वृत्ति० १।१

५८. विशेष विवरण के लिए देखे, लेखक का 'सेवा : एक विश्लेषण' लेख।

स्वाध्याय है।[५९] इसके पांच प्रकार हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छा (३) परिवर्तन—स्मरण, (४) अनुप्रेक्षा—चिंतन, (५) धर्म-कथा।[६०]

(११) ध्यान—अध्यवसाय को स्थिर करना ध्यान है। चचल चित्त का किसी एक विषय मे स्थिर हो जाना ध्यान है।[६१] ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल।[६२] आर्त्त और

---

५९ "अज्झयणमि रओ सया'-अज्झयण सज्झाओ भण्णइ, तमि सज्झाए सदा रतो भविज्जति।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि २८७

(ख) स्वाध्याये वाचनादो

—दशवैकालिक, हारिभद्रीयटीका २३५

६० वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पचहा भवे॥

—उत्तरा० ३०।३४

(ख) पचविहे सज्झाए प० त० वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।

—स्थानाङ्ग ५।३।४६५

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र ६।२५

(घ) भगवती २५।७०२

(ङ) औपपातिक ३०

६१ (क) एगग्ग मणसन्निवेसणाए ण भते! जीवे किं जणयइ?
एगग्गमणसन्निवेसणाए ण चित्तनिरोह करेइ।

—उत्तराध्ययन २९।२५

(ख) उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७

(ग) ज थिरमज्झवसाण त झाण।

(घ) ठाणाङ्ग ५।३।५११ टीका

६२ चत्तारि झाणा पं० त० अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे।

—ठाणांग ४।१।३०८

रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त है। धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त है।[६३] अप्रशस्त ध्यान को त्यागकर प्रशस्तध्यान मे आत्मा को स्थिर करना वस्तुतः ध्यान है।[६४]

इन चारों ध्यानों के भी अनेक भेद प्रभेद है।[६५]

(१२) व्युत्सर्ग—शरीर, सहयोग, उपकरण और खान-पान का त्याग करना और कषाय, संसार और कर्म का त्याग करना व्युत्सर्ग है।[६६]

व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है—(१) द्रव्य व्युत्सर्ग (२) और भाव व्युत्सर्ग।[६७] द्रव्य व्युत्सर्ग,—(१) शरीर व्युत्सर्ग,[६८] (२) गण-व्युत्सर्ग, (३) उपधि व्युत्सर्ग (४) और आहारव्युत्सर्ग रूप मे चार प्रकार का है। भावव्युत्सर्ग—(१) कषायव्युत्सर्ग[६९], (२) ससार व्युत्सर्ग (३) और कर्मव्युत्सर्ग रूप मे तीन प्रकार का है।

इस प्रकार तप के दो प्रकार बताये हैं। बाह्य तप में शरीर-सम्बन्धी सभी साधना-नियम समा जाते है, और आभ्यन्तर तप में

(ख) आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।

—तत्त्वार्थ० ९।२९

६३. परे मोक्षहेतू।

—तत्त्वार्थ० ९।३०

६४. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए॥

—उत्तरा० ३०।३५

६५. स्थानाङ्ग ४।१।३०८

६६. औपपातिक, तपोऽधिकार।

६७. बाह्याभ्यन्तरोपध्योः।

—तत्त्वार्थ० ९।२६

६८. सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सगो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

—उत्तरा० ३०।३६

हृदय को विशुद्ध बनाने वाले आचारो का समावेश हो जाता है। अनशन और ध्यान दोनो का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत क्रम मे किया गया है। इस क्रम मे न केवल कष्ट सहन का विधान है और न कष्ट से पालयन कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न ही है। साधक के लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनो अपेक्षित है। दोनो का सुमेल इस साधना क्रम मे है। पर अन्य परम्पराओ मे ऐसा सुनियोजित क्रम नही है। अन्य परम्पराओ ने जहा केवल काय क्लेश और देह-दमन को महत्त्व दिया है,[70] वहाँ जैन परम्परा ने कायक्लेश और देहदमन[71] के साथ ही आभ्यन्तर तप को महत्त्व दिया है। जैन सस्कृति का यह यज्ञ आघोष रहा है कि बाह्य तप के साथ यदि आभ्यन्तर तप का मेल नही है तो वह बाह्य तप मिथ्या है। धन्य अनगार[72] की तरह ही

---

६९ दव्वे भावे अ तहा दुहा, विसग्गो चउव्विहो दव्वे।
गणदेहोवहिभत्ते, भावे कोहादि चाओ त्ति।
काले गणदेहाए, अतिरित्तासुद्धभत्तपाणाए।
कोहाइयाण सयय, चायव्वा होई चाओ त्ति॥

—दशवैकालिक १–१ हारिभद्रीया वृत्ति

७० लोकप्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणाऽऽसेव्यमानत्वाद् बाह्य, तदितरच्चाऽऽभ्यन्तरमुक्तम्।

—उत्तराध्ययन ३०।७ नेमिचन्द्राचार्य वृत्ति

(ख) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम्॥१७
परप्रत्यक्षत्वाद् १८
तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च॥१९॥ अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र ९।१९ राजवार्तिक

७१ खुह पिवास दुस्सेज्जा, सीउण्ह अरई भय।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्ख महाफल॥

—दशवैकालिक ८।गा० २७

७२ अनुत्तरोपपातिक वर्ग ३

तामली तापस[७३] और पूरण तापस[७४] ने उग्र तप किया था, किन्तु आभ्यन्तर तप के अभाव मे उनके विपुल तप को भगवान् महावीर ने अज्ञानतप कहा है। करोड़ों वर्षो तक अज्ञान-तप करने पर अज्ञानी जितने कर्मो को नष्ट कर पाता है, उतने कर्मो को ज्ञानी कुछ ही समय में नष्ट कर देता है।[७५] एतदर्थ ही साधक को बाह्य तप करने के पूर्व आगमों का अध्ययन करना आवश्यक माना है।[७६] बाह्य तप क्रिया-योग का प्रतीक है और आभ्यन्तर तप ज्ञानयोग का। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही मोक्ष का मार्ग है।[७७] उपाध्याय यशोविजय जी ने एतदर्थ ही मुनि को बाह्य और आभ्यन्तर तप करने की प्रेरणा दी है।[७८]

महात्मा बुद्ध ने मज्झिम निकाय[७९] आदि में जैन संस्कृति के तप

---

७३. भगवती, शतक ३। उद्देश० १

७४. भगवती, शतक ३ उद्दे० २

७५. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहि वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण ॥

—संथार पइन्ना

(ख) उग्गतवेणण्णाणी जं कम्म खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ अंतोमुहुत्तेणं ॥

—मोक्ष पाहुड-कुन्दकुन्द ५३

७६. तए ण से धन्ने अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावे माणे विहरइ।

— अनुत्तरौपपातिक वर्ग ३

७७. दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकतारं वीइवएज्जा, तं जहा-विज्जाए चेव, चरणेण चेव।

—स्थानांग २।१

(ख) ज्ञान क्रियाभ्या मोक्षः।

७८. मूलोत्तरगुणश्रेणि, प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं, तपः कुर्यात् महामुनिः ॥

—ज्ञानसार तपश्राष्टक ६

७९. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त ५६

का उपहास किया है और उसकी निरर्थकता बताई है। पर ज्ञात होता है कि उन्होने केवल बाह्यतप को ही श्रमणो का तप समझा, आभ्यन्तर तप की ओर उनका ध्यान ही नही गया। यदि गया होता तो भूलकर के भी वे जैन परम्परा के तप का उपहास नही कर सकते थे। जैन परम्परा मे स्पष्ट कहा गया है—कायक्लेश और देहदमन तभी तक सार्थक हैं जब उनका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि के लिए होता है।[८०] जो बाह्य तप आध्यात्मिक कलुषता पैदा करता है, वह तप नही, ताप है, उपवास नही, लघन है।[८१] उपवास का अर्थ है—पापो से निवृत्त होकर सद्गुणो मे रमण करना।[८२]

महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर की तप साधना मे यही मुख्य अन्तर रहा है। महात्मा बुद्ध ने छह वर्ष तक उग्र तप किया, तप से देह को जर्जरित बनाया,[८३] पर आभ्यन्तर तप के अभाव मे बाह्य तप उन्हे शान्ति प्रदान नही कर सका। अन्त मे उन्होंने बाह्यतप का त्याग किया।[८४] किन्तु भगवान् श्री महावीर बाह्यतप के साथ सदा आभ्यन्तर तप करते रहे। अनशन के साथ आसन और ध्यान की स्पर्धा सी चलती रही। उन्होंने अपने साधना काल मे उत्कटु आसन, निषद्या, कायोत्सर्ग, प्रतिमाएं एक बार नहीं, अपितु शताधिक बार

---

८० तदेव हि तप कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥
—ज्ञानसार, तपश्चक, उपा० यशोविजय

८१ कषायविषयाहार त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवास स विज्ञेय, शेष लघनक विदु ॥

८२ उपावृत्तस्य पापेभ्य सहवासो गुणैर्हि य ।
उपवास स विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम् ॥

८३ इहासने शुष्यतु मे शरीर, त्वगस्थिमास प्रलय च यातु ।
अप्राप्य बोधि बहुकल्पदुर्लभा नैवासनात् कायमिद चलिष्यति ॥
—दर्शन और चिन्तन, प० सुखलाल जी द्वि० खण्ड
—पृ० ६३ मे उद्धृत

८४ मज्झिम निकाय १२ महासीहनाद सुत्त० दण्डिका २० से २६ तक।

की।[८५] बारह बार उन्होने एक रात्रि की प्रतिमा अंगीकार की।[८६] जब भगवान् दृढभूमि के पेढाल ग्राम मे विचरण कर रहे थे तब उन्होंने पोलाश चैत्य मे तीन दिन का उपवास किया। कायोत्सर्ग मुद्रा की। उनका तन आगे की ओर कुछ झुका हुआ था। एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित थी। आँखे अनिमेप थी। तन प्रणिहित था, इन्द्रियाँ गुप्त थी। दोनों पैर सटे हुए थे और दोनों हाथ प्रलम्बित थे। प्रस्तुत मुद्रा मे भगवान् ने एक रात्रि की महाप्रतिमा की।[८७]

भगवान् ने सानुलष्टि ग्राम मे भद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमा नामक तपश्चर्या की। चारो दिशाओ मे चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना भद्रा प्रतिमा है।[८८] इस प्रतिमा की आराधना करने वाला प्रथम दिन पूर्वदिशा की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है, रात्रि

---

८५. तिन्नि सए दिवसाणं अउणापन्ने य पारणाकालो।
उक्कुडुअनिसिज्जाए, ठियपडिमाणं सए बहुए॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५३४

८६. दस दो अ किर महप्पा ठाइ मुणी एगराइयं पडिमं।
अट्ठमभत्तेण जई इक्किक्कं चरमराई अ॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५३१

८७. ततो भयवं बहुमेच्छं दढभूमिं गतो, तस्स वहि पोलासं नाम चेइयं, तत्थ अट्ठमेण भत्तेण अपाणएण ईसिपब्भारगएण काएणं, इसीपब्भारगतो नाम ईसिं ओणतो कातो, एगपोग्गलनिरुद्धदिट्ठी अणिमिसनयणे, तत्थवि जे अचित्ता पोग्गला तेसु दिट्ठिं निवेसेइ, सचेत्तेहि दिट्ठी अप्पाइज्जइ, जहा दुच्चाए, अहापणिहिएहि गत्तेहि सव्विदिएहि गुत्तेहि दोवि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगराइयं महापडिमं ठितो। एतदेवाह—
दढभूमी बहुमिच्छा पेढालग्गाममागओ भयवं।
पोलासचेइयम्मि ट्ठिएगराइं महापडिमं॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ४९७ मलयगिरि वृत्ति पत्र २८८

८८. पूर्वादिदिक्चतुष्टये प्रत्येकं प्रहरचतुष्टय—
कायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्रद्वयमानेति।
— स्थानाङ्ग सूत्र, सटीक प्र० भा० पत्र ६५-२

में दक्षिण दिशा की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है। द्वितीय दिन पश्चिम दिशा की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है और रात्रि में उत्तर की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है। भगवान् ने भद्रा के पश्चात् ही महाभद्रा प्रतिमा प्रारम्भ कर दी। उसमें चारों दिशाओं में एक दिन रात कायोत्सर्ग किया जाता है।[89] भगवान् ने चार दिन तक इसकी आराधना की। इसके पश्चात् सर्वतोभद्रा प्रतिमा का प्रारम्भ किया, इसमें दस दिन रात लगे। दशों दिशाओं में क्रमशः अहोरात्र कायोत्सर्ग किया जाता है।[90] इस प्रकार भगवान् सोलह दिन रात तक सतत ध्यानरत और उपवासी रहे।[91]

---

८९ महाभद्रापि तथैव, नवरमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रचतुष्टयमाना।
—स्थानाङ्ग वृत्ति प्र० भा० पत्र ६५-२

९० सर्वतोभद्रा तु दशसु, दिक्षु प्रत्येकमहोरात्र—
कायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदशकप्रमाणेति ॥
—वही, पत्र, ६५-२

९१ तदनन्तरं सानुलट्ठिगामं गतो। तत्थ भद्दं पडिमं ठाति। केरिसिया भद्दा पडिमा? भण्णइ पुव्वामिमुहो दिवसं अच्छइ, पच्छा रत्तिं दाहिणहुत्तो, ततो बीए अवरेणं दिवसं उत्तरेणं रत्तिं एवं छट्ठेण भत्तेण निट्ठिया, तहवि न चेव पारेइ, ततो अपारिता चेव महाभद्दं पडिमं ठाइ, सा पुण एवं-पुव्वाए दिसाए अहोरत्तं, एवं चउसु वि दिसासु चत्तारि अहोरत्ता, एवमेसा दसमेण निट्ठिया, तहावि न पारेइ, ताहे अपारिता चेव सव्वतोभद्दं पडिमं ठाइ, सा पुण सव्वतोभद्दा एवं इंदाए अहोरत्तं, एवं अग्गेईए जम्माए नेरईए वारुणीए वायव्वाए सोमाए ईसाणीए विमलाए (तमाए) सव्व जाइं उड्ढलोइयाइं दव्वाइं ताइं झायइ, तमाए हेट्ठिल्लाइं, एवमेसा दसहिं दिसाहिं बावीसइमेण समप्पइ, एवं च प्रथमाया प्रतिमाया चत्वारि यामचतुष्कानि, तद्यथा एकं पूर्वस्यामेवमपरस्यामेवं दक्षिणस्यामेवमुत्तरस्यां, द्वितीयस्यामष्टौ यामचतुष्कानि, तद्यथा द्वे यामचतुष्के पूर्वस्यामेवं यावत् द्वे यामचतुष्के उत्तरस्यां, तृतीयस्यां विंशतिर्यामचतुष्कानि, तद्यथा-द्वे यामचतुष्के पूर्वस्यामेवं यावत् द्वे यामचतुष्के तमायामिति,

जब भगवान् को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था, तब भी वे ऊकडू आसन से बैठे थे। दो दिन का उपवास था।[९२] और ध्यानान्तरिका में वर्तमान थे।[९३] उनके जीवनदर्शन से स्पष्ट है कि वे तप से कभी भी ऊबे नहीं। इस उग्र तपश्चरण की बदौलत उनमें असाधारण सहिष्णुता उत्पन्न हो गई थी। यही कारण है कि घोर से घोर अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग एवं परीषह[९४] उन्हें अपने ध्येय से विचलित नहीं कर सके।[९५] भगवान् ने अत्यन्त वीरता के साथ उन्हें सहन करके एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

उपाध्याय श्री यशोविजय जी कहते हैं—"जैसे धनार्थी मनुष्य को शीत, ताप, क्षुधा आदि दुस्सह प्रतीत नहीं होता, वैसे ही तत्त्व ज्ञान के अर्थी साधक को भी किसी प्रकार का देहकष्ट दुस्सह नहीं होता।[९६]

पडिमाभद्द महाभद्द सव्वओभद्द पढमिया चउरो।
अट्ठ य वीसाऽऽणंदे बहुलिय तह उज्झिया दिव्वा॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ४९६, मलय० वृत्ति २८८

९२. जभिय बहि उजुवालिय तीरवियावत्त सामसाल अहे।
छट्ठेणुक्कुडुयस्स उ उप्पन्नं केवलं नाणं॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५२५

९३. झाणंतरियाए वट्टमाणस्स। —आवश्यक निर्युक्ति ५२४ वृ० प० २९८

९४. धूली पिवीलिआओ उद्दंसा चेव तह य उण्होला।
विच्छुअ नउला सप्पा य मूसगा चेव अट्ठमया॥
हत्थी हत्थिणियाओ पिसाअए घोररूव वग्घो य।
थेरो थेरी सूओ आगच्छइ पक्कणो अ तहा॥
खरवाय कलंकलिया, कालचक्कं तहेव य।
पाभाइयमुवसग्गो, वीसइमे होंति अणुलोमे॥
सामाणियदेविड्ढि देवो दाएइ सो विमाणगओ।
भणइ वरेह महरिसि ! निप्फत्ती सग्गमोक्खाणं॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५०२–५०५

(ख) त्रिषष्ठि० १०।४।१८६–२८१

९५. आचारांग, श्रु० २, अ० १५, सू० १०१८

९६. धनार्थिनां यथा नास्ति शीततापादि दुस्सहम्।
तथा भव-विरक्तानां तत्व-ज्ञानार्थिनामपि॥ —ज्ञानसार-तपाष्टक

अपितु ध्येय के माधुर्य का अनुभव हो जाने पर और उसमें गहरी लगन लग जाने पर देहदमन भी आनन्द की वृद्धि करने वाला होता है।[97]

जैन संस्कृति ने तप का मुख्य ध्येय आत्माभ्युदय स्वीकार किया है। आचार्य जिनदास गणी महत्तर के शब्दों में "तप वह है जो अष्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थियों को तपाता है, उन्हें भस्म करता है।"[98] भगवान् महावीर ने तप का फल व्यवदान बताया है।[99] व्यवदान का अर्थ संचित कर्म मल को साफ कर देना है। एक आचार्य ने तप का अर्थ इच्छाओं को रोकना किया है।[100] आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—जैसे सदोष स्वर्ण, प्रदीप्त अग्नि द्वारा शुद्ध होता है, वैसे ही आत्मा तप अग्नि से विशुद्ध होता है। बाह्य और आभ्यन्तर तपस्याग्नि से प्रज्वलित होकर यमी दुर्जर कर्मों को तत्क्षण भस्म कर देता है।[101]

---

९७ सदुपाय प्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्दवृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥

—ज्ञानसार, तपाष्टक

९८ तवो णाम तावयति अट्ठविहं, कम्मगंठिं नासेतित्ति वुत्तं भवइ ।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १५

९९ तवेणं भंते जीवे किं जणयइ ?
तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

—उत्तराध्ययन अ० २९।२७

(ख) तवे वोदाणफले ।

—भगवती, शतक २ उद्दे० ५

१०० इच्छानिरोधस्तपः ।

१०१ सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा,
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ।
दीप्यमाने तपोवह्नौ बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ।

—[illegible]
[illegible] ८।११२

उत्तराध्ययन में बताया है 'कोटि भवों के संचित कर्म तप द्वारा जीर्ण होकर नष्ट हो जाते है।'[१०२] आचार्य श्री शय्यंभव ने तप के ध्येय पर प्रकाश डालते हुए बताया—(१) इहलोकसंबंधी लाभ के निमित्त तप नहीं करना चाहिए (२) परलोक संबंधी अभ्युदय के निमित्त तप नहीं करना चाहिए (३) कीर्ति, वर्ण, [लोक-व्यापी यश], शब्द [लोक-प्रसिद्धि] और श्लोक [स्थानीय प्रशंसा] के लिए तप नहीं करना चाहिए। निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए।[१०३]

आचार्य अकलंक देव कहते हैं—जैसे किसान को खेती से अभीष्ट धान्य के साथ-साथ पयाल भी मिलता है, उसी तरह तप-क्रिया का प्रधान प्रयोजन कर्मक्षय ही है। अभ्युदय की प्राप्ति तो पयाल की तरह आनुषंगिक है।[१०४]

तप स्वरूपतः एक है, किन्तु तपस्वी की भावना के भेद के कारण उसे सकाम और निष्काम, इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। लोकेषणा या लौकिक ऋद्धि-सिद्धि के उद्देश्य से किया जाने वाला तप सकाम तप कहलाता है और आत्म-उत्थान के लिए या कर्म निर्जरा के अर्थ जो तप किया जाता है, वह निष्काम तप है।

---

१०२. भवकोडि सचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।

—उत्तरा० ३०।६

१०३. चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ तंजहा—
(१) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा
(२) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा
(३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।
(४) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।

—दशवैकालिक अ० ९।उ० ४।४

१०४. गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत्। अथवा, यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुणप्रधानफलाभिसम्बन्धः तथा मुनेरपि तपस्क्रियायां प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनिःश्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्वेदितव्यः।

—तत्वार्थसूत्र ९।३, राजवार्तिक ५

आगम साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि लौकिक कामना से तप करने वालो को लौकिक सिद्धिया भी उपलब्ध हुई हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे चक्रवर्ती सम्राट् भरत का वर्णन है। उन्होने समग्र षटखण्ड भारतवर्ष को प्रशासनिक दृष्टि से एक सूत्र मे ग्रथित करने के लिए, साथ ही आदिनाथ ऋषभ द्वारा स्थापित कल्याणकारी मर्यादाओ और व्यवस्थाओ को सर्वत्र लागू करने के लिए जो विराट् अभियान किया था, उसकी सफलता के लिए तेरह बार अष्टम तप की साधना की।[१०५] श्री कृष्णवासुदेव अपने लघुभ्राता गजसुकुमार को प्राप्त करने के लिए तप करते हैं।[१०६] गर्भवती रानी धारणी के दोहद को पूर्ण करने के अर्थ, दैवी सहायता प्राप्त करने के लिए, अभयकुमार तप करते है। तप के प्रभाव से देव वर्षाकाल न होने पर भी वर्षाकाल का मनोहर दृश्य उपस्थित[१०७] करता है। इत्यादि उदाहरणो से स्पष्ट है कि तप से लौकिक कामनाएँ भी पूर्ण होती है। पर जैन सस्कृति ने इस प्रकार के तप को आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से कोई महत्त्व नही दिया है। यही नही, भोगो की लालसा से किये जाने वाले तप को मोक्षप्राप्ति मे बाधारूप माना है। दशाश्रुतस्कध मे स्पष्ट निर्देश है कि परभव म अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के हेतु किया जाने वाला तप निदान है, जो साधना के लिए शल्य रूप है।[१०८]

गाधी जी कहते है—तप से जीवन निखरता है, मन मँजता है और काया कचनमय होती है।[१०९] काया के कचनमय हो जाने का

---

१०५ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, भरतचक्रवर्ती अधिकार।

१०६ अन्तकृतदशाङ्ग, तृतीय वर्ग

१०७ ज्ञातृधर्मकथाङ्ग १।१६

१०८ दशाश्रुतस्कध अ० १० निदान वर्णन,

(ख) स्थानाङ्ग ३।१८२,

(ग) समवायाङ्ग सम० ३

१०९ गाधी जी की सूक्तियाँ

आशय यही है कि तप से शुष्क शरीर मे एक अनूठा तपस्तेज दमक उठता है। तप एक प्रकार से शुद्ध की हुई रसायन है। कहा जाता है कि आज के वैज्ञानिकों ने "बायोकेमिष्ट" औषधियों की शोध की है। उनका मन्तव्य है कि शरीर में बारह प्रकार के तत्त्व होते है। उन तत्त्वों मे से किसी भी एक तत्त्व की न्यूनता होने से शरीर रुग्ण होता है। बारह प्रकार के क्षार तत्त्वों से रोगों को नष्ट कर शरीर को पूर्ण स्वस्थ और मस्त बनाया जा सकता है। तप के भी जो बारह प्रकार हैं, वे "बायो केमिष्ट" औषधियों के समान है। इन तपों का शरीर के किस तत्त्व पर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह अनुसन्धान का विषय है। तथापि निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इनके आचरण से कर्म रूपी रोग नष्ट होते हैं और आत्मा पूर्ण स्वस्थ होता है।

तप श्रमण संस्कृति की आत्मा है। तप और श्रमण संस्कृति के द्वैत की मान्यता को मैं मानस की सिकुड़न मानता हूँ। तप संयम की पौध का फलना, फूलना ही श्रमण संस्कृति का विकास है।



आठ | अहिंसा और सर्वोदय

भारतीय चिन्तकों ने जितनी गहराई में अहिंसा के सम्बन्ध में चिंतन किया है उतना विश्व के अन्य विचारकों ने नहीं। अहिंसा आत्मा का आलोक है, जीवन की पवित्रता है, मन का माधुर्य है, मैत्री का मूलमन्त्र है। स्नेह, सौहार्द्र और सद्भावना का सूत्र है। धर्म, संस्कृति, समाज का प्राण है। साधना का पथ है।

हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है—"प्रमत्त योग से दूसरों के प्राणों का अपहरण करना"[1]—दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण व्यपरोपण करना[2]। और अहिंसा का अर्थ है—प्राणातिपात से विरति।[3]

जैन साहित्य में हिंसा के लिए प्राणातिपात शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्रिया, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु ये प्राण हैं। प्राणातिपात का अर्थ है प्राणी के प्राणों का अतिपात करना—जीव से प्राणों का पृथक करना। जीवों को समाप्त करना

---

१ प्रमत्तयोगात प्राणव्यपरोपण हिंसा।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।१३

२ मणवयणकाएहिं जाएहिं दुप्पउत्तेहिं जं पाणववरोवणं कज्जइ सा हिंसा।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि प्र० अध्य०

३ अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १५

ही केवल अतिपात नहीं है, किन्तु उनको किसी भी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है।[४]

उक्त व्याख्याओं मे दया और करुणा का पयोधि उछालें मार रहा है। स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक किसी भी प्राणी को मन, वचन और काया से कष्ट न पहुँचाना और उनके प्रति मैत्री भाव रखना अहिंसा है। अहिंसा हमे "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का पाठ पढाती है।

अहिंसा का महत्व प्रतिपादित करते हुए भगवान् श्री महावीर ने अहिंसा को 'भगवती' कहा है।[५] और आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को 'परम ब्रह्म' कहा है।[६] महाभारतकार व्यास ने अहिंसा को परम धर्म, परम तप, परम सत्य, परम संयम, परम दान, परम यज्ञ, परम फल, परम मित्र और परम सुख कहा है।[७]

---

४ (क) पाणातिवाता [तो] अतिवातो हिंसण ततो एसा पंचमी अपादाणे भयहेतुलक्खणा वा, भीतार्थानां भयहेतुरिति।

—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) पाणाइवाओ नाम इंदिया आउप्पाणादिणो छव्विहो पाणा य जेसिं अत्थि ते पाणिणो भण्णंति, तेसिं पाणाणमइवाओ तेहिं पाणेहिं सह विसंजोगकरणत्ति वुत्तं भवइ।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १४६

(ग) प्राणा-इन्द्रियादयः तेषामतिपातः प्राणातिपातः—जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव।

—दशवैकालिक, हारिभद्रीयावृत्ति प० १४४

५. एसा सा भगवती अहिंसा

—प्रश्नव्याकरण

६. अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

—बृहत् स्वयंभू स्तोत्र

७. अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥

आगम साहित्य का पर्यवेषण करने पर ज्ञात होता है कि महाव्रतो की त्रिविध परम्परा रही है। आचाराग मे अहिंसा, सत्य और वहिर्धादान इन तीन का उल्लेख है[8] स्थानाङ्ग[9] उत्तराध्ययन[10] प्रभृति मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य और वहिर्धादान[11] इन चार याम [महाव्रतो] का उल्लेख है। उत्तरागम[12] दशवैकालिक[13] आदि आगमो मे अनेक स्थानो पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाच महाव्रतो का वर्णन है।

स्थानाङ्ग आदि के अनुसार भगवान् श्री ऋषभदेव ने तथा भगवान् श्री महावीर ने पाँच महाव्रतात्मक धर्म का प्ररूपण

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥

—महाभारत, अनुशासन पर्व ११८–२३।११६।२८–२९

८ जामा तिण्णि उदाहिया ।

—आचाराग ७।१।४००

९ स्थानाङ्ग २६६

१० चाउज्जामो अ जो धम्मो, जो इमो पच सिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥

—उत्तरा० २३।२३

११ 'बहिद्धादाणाओ त्ति बहिद्धा मैथुन परिग्रहविशेष आदान च परिग्रहस्तयोर्द्वन्द्वैकत्वमथ वा आदीयते इत्यादान परिग्राह्य वस्तु, तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह बहिस्तात धर्मोपकरणाद् बहिरिति। इह च मैथुन परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यत इति ।

—स्थानाङ्ग वृत्ति २६६

१२ अहिंस सच्च च अतेणग च,
तत्तो य बभ अपरिग्गह च ।
पडिवज्जिया पच महव्वयाइ,
चरिज्ज धम्म जिणदेसिय विऊ ।

—उत्तराध्ययन, २१।१२

१३ दशवैकालिक, अ० ४

किया और अन्य बाईस तीर्थङ्करो ने चातुर्याम धर्म का निरूपण किया।[१४]

पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि सर्वत्र अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। अहिंसा की विशद व्याप्ति मे ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों का समावेश हो जाता है। जहाँ अहिंसा है वहाँ पाँचों महाव्रत है।[१५]

जैन दर्शन के मनीषी आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि सत्य आदि जितने भी व्रत है वे सभी अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं।[१६] अहिंसा धान है और सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले वाड़े हैं।[१७] अहिंसा यदि पानी है तो सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाली पाल है।[१८]

---

१४. मज्झिगमा बावीस अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, त जहा-सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमण, सव्वाओ वहिद्धादाणाओ वेरमण।

—स्थानाङ्ग २६६

१५. अहिंसा-गहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। सजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ, सपुण्णाय अहिंसाय संजमो वि तस्स वट्टइ।

—दशवैकालिक चूर्णि प्र० अ०

१६. एक्कं चिय एक्कं वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं।
सव्वेहि पाणाइवायविरमण - सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा।

—पचसंग्रह

(ख) अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्ग-मोक्ष प्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्य सत्यादिपालनम्।

—हारिभद्रीयाष्टक १६।५

(ग) अवसेसा तस्स रक्खट्ठा।

१७. अहिंसाशस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतनाम्।

—हारिभद्रीयाष्टक १६।५

१८. अहिंसापयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।

—योगशास्त्र प्रकाश-२

योग साधना के आठ सोपान है।[१९] उनमें प्रथम सोपान का प्रथम चरण है अहिंसा।[२०] अहिंसा की मंजिल को पूरी किये बिना योग में गति और प्रगति नहीं हो सकती। अहिंसा की साधना से ही स्नेह, सौहार्द और प्रेम का समुद्र ठाठें मारने लगता है। यहाँ तक कि अहिंसक के सन्निकट पहुँचकर हिंसक से हिंसक का भी वैर विस्मृत हो जाता है।[२१] यही कारण है कि तीर्थङ्करों के समवसरण में शेर और बकरी एक स्थान पर बैठते हैं।

देवर्षि नारद भक्तों को प्रेरणा देते हैं कि भगवान् के चरणों में अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, दया, क्षमा, शान्ति, तप, ध्यान और सत्य ये आठ प्रकार के पुष्प अर्पित करो। इनमें भी सर्वप्रथम पुष्प अहिंसा है।[२२]

जिस प्रकार हाथी के पैर में सब प्राणियों के पैर समा जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा में सब धर्मों के अर्थ व तत्त्व समा जाते हैं। ऐसा जानकर समझकर जो अहिंसा का प्रतिपालन करते हैं वे नित्य अमृत-मोक्ष में वास करते हैं।[२३]

---

१९ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

—पतंजलि, योगदर्शन २।२९

२० अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

—पतंजलि, योगदर्शन २।३०

२१ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

२२ अहिंसा प्रथमं पुष्पं, पुष्पं इन्द्रियनिग्रहः॥
सर्वभूतदया पुष्पं, क्षमा पुष्पं विशेषतः।
शान्तिः पुष्पं तपः पुष्पं ध्यानपुष्पं तथैव च।
सत्यं अष्टविधं पुष्पं विष्णोः प्रीतिकरं भवेत्।

—पद्मपुराण

२३ यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते।
अमृतः स नित्यं वसति योऽहिंसां प्रतिपद्यते॥

—महाभारत १२।२३७।१८।१९

अभिप्राय यह है कि सभी धर्मों ने, पन्थों ने, सन्तों और महर्षियों ने एक स्वर से अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया है।[२४] अहिंसा धर्म, संस्कृति, समाज और राष्ट्र के योगक्षेम का मूलाधार है। अहिंसा के अभाव मे धर्म, संस्कृति, समाज और राष्ट्र का कोई भी मूल्य नही है।

अहिंसा एक अमृतकलश के समान है, जिसका स्वाद सभी के लिए मधुर है, मधुरतम है।

अहिंसा और सर्वोदय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अहिंसा ही सर्वोदय की जन्मभूमि है। जो अहिंसक है उसके विराट हृदय मे ही सबके उदय, सबके उत्कर्ष, सबके विकास और सबके कल्याण की मंगलमय भावना उद्‌बुद्ध होती है। सबके जीवनोत्थान की प्रशस्त भावना को प्राचीन भारतीय मनीषियों ने अहिंसक भावना कहा है। उसे ही आज के चिन्तकों ने सर्वोदय कहा है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि महात्मा गान्धी सर्वोदय के उपद्रष्टा थे, पर सर्वोदय शब्द के स्रष्टा नही थे। सर्वोदय शब्द का प्रयोग जैनाचार्य समन्तभद्र ने बहुत ही पहले किया है। उन्होने तीर्थङ्कर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा है।[२५] तीर्थङ्कर का शासन एक ऐसा विशिष्ट और विलक्षण शासन है जिसमे प्राणीमात्र का उत्कर्ष है, सभी का विकास है। सभी का उदय होता है। वह समस्त आपदाओं का अन्तकर है।

सर्वोदय भारतीय चिन्तन का मूलस्वर है। "सब सुखी रहें, सब स्वस्थ रहे, सब कल्याणभागी बने, कोई कभी दुःखी न हो।[२६] "सब

---

२४. परम धर्म श्रुतिविदित अहिंसा।

—संत तुलसीदास

२५. सर्वापदामन्तकरं निरंतं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।

—समन्तभद्र

२६. सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।

जीव मुझे क्षमा करें, मैं भी सबको क्षमा करता हूँ, सबके साथ मेरी मित्रता है, किसी पर भी मेरा वैर भाव नहीं है।"[२७] "सम्पूर्ण ससार का कल्याण हो, प्राणी एक दूसरे के हित मे सदा रत रहे, हमारे समग्र दोष नष्ट हो, सर्वत्र जीव सुखी रहे।"[२८]

विश्वात्मवाद सर्वोदय का आदर्श है और समन्वय उसकी नीति है। विश्वात्मवाद के द्वारा वह मानवनिर्मित समस्त विषमताओं को समता मे परिवर्तित करना चाहता है। एक व्यक्ति सुख के सागर पर तैरता रहे और दूसरा व्यक्ति दु ख की भट्टी म झुलसता रहे, यह अनुचित है। वर्णव्यवस्था समाजकृत है, यह कृत्रिम है, स्वाभाविक नही, अत सर्वोदय सभी वर्गो का उत्कर्ष चाहता है। पर उत्कर्ष मे ही स्व-उत्कर्ष निहारता है। सर्वोदय की निष्ठा राजनीति मे नही, लोकनीति मे है, शासन मे नही, अनुशासन मे है। अधिकार मे नही, कर्तव्य मे ह। विषमता मे नही, समता मे है। भेद मे नही, अभेद मे हैं, अनेकत्व मे नही एकत्व मे हैं।

जहाँ अहिंसा है, मैत्री है करुणा है, दया है, स्नेह है, सौहार्द है, सद्भावना है, वही सर्वोदय है और जहाँ सर्वोदय है वही शान्ति है, सुख है।



---

२७ खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ॥

—आवश्यक सूत्र

२८ शिवमस्तु सर्वजगत
परहित निरता भवन्तु भूतगणा।
दोषा प्रयान्तु नाश
सर्वत्र सुखी भवतु लोक।

नौ | सेवा : एक विश्लेषण

भारतवर्ष का चिन्तन मानव को सदा से यह संदेश प्रदान कर कर रहा है कि सेवा जीवन है, सेवा परम तप है,[1] सेवा प्रधान धर्म है। सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं, तप नहीं।[2]

'सेवा' यह दो अक्षरों का लघु शब्द अपने आप में एक विराट् अर्थ-गरिमा को संजोये हुए है। आज सेवा के अर्थ में सहयोग शब्द व्यवहृत होता है किन्तु सहयोग और सेवा में बहुत बड़ा अन्तर है। सहयोग विनिमय की भावना रहती है। सेवा मे समर्पण होता है, सहयोग में अलगाव का भाव निहित है। सहयोग के अन्तस्तल में अहंकार हो सकता है, जब कि सेवा मे नम्रता के अतिरिक्त अन्य कोई भावना नही होती। वह विवेक पर आश्रित है अतः सेवा के अर्थ मे सहयोग शब्द का प्रयोग करना, सेवा की महान् अर्थसम्पदा को कम करना है।

१, पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ,
झाणं च विउसग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो।

—उत्तराध्ययन, ३०, गा० ३०

(ख) औपपातिक तपोधिकार।

(ग) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ९, सू० २०

२. There is No greater religion than Seruice.

जैनागमों में सेवा के अर्थ में वेयावडिय[3] और 'वेयावच्च'[4] ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका संस्कृत रूप क्रमश वैयापृत्य और वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—जिस व्यक्ति को जिस प्रकार

३, (क) वेयावडिय करेह।
(ख) वेयावडिय करेंति।

—भगवती, शतक ५, उद्देशा ४ सू० १८७

(ग) एयाइ तीसे वयणाइ सोच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे विणिवाडयंति॥

—उत्तराध्ययन अ० १२, गा०२४

(घ) पुव्वि च इण्हि च अणागय च,
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोई।
जक्खा हु वेयावडिय करेंति,
तम्हा हु एए निहया कुमारा।

—उत्तराध्ययन,१२।३२

(ङ) गिहिणो वेयावडिय।

—दशवैकालिक, अ० ३, गा० ६

(च) गिहिणो वेयावडिय न कुज्जा।

—दशवैकालिक दूसरी चूलिका, गा० ६

४ (क) वेयावच्च तहेव सज्झाओ।

—उत्तराध्ययन अ० ३०।३०

(ख) उत्तराध्ययन अ० २६-४३
(ग) वेयावच्च वावडभावो इह धम्मसाहणणिमित्त,
अन्नाइयाण विहिणो सपायणमेस भावत्थो।

—स्थानाङ्ग ५।३।४११। टी० प० ३४६

(घ) भगवती २५।७। पृ० २८०
(ङ) औपपातिक सूत्र ३०। पृ० २६

की आवश्यकता हो उस का उसी प्रकार उचित सत्कार करना।[५] श्रमणो को शुद्ध आहार आदि से सहारा पहुँचाना।[६] अथवा 'द्रव्य' और भाव से अपना स्वयं का तथा पर का उपकार करना।[७] संयमी की आपत्तियों को दूर कर संयम मे अपना अनुराग करना।[८]

---

५. आसेवणं जहाथामं, वेयावच्च तमाहियं।

—उत्तराध्ययन अ० ३०।३३

६. (क) व्यावृत्तस्य भावः कर्म्म वा वैयावृत्यं भक्तादिभिरुपष्टम्भ.।

—स्थानाङ्ग ३।३।१८८ टी० प० १४५

(ख) व्यावृत्तभावो वैयावृत्यं धर्म साधनार्थं अन्नादि-दानमित्यर्थः।

—स्थानाङ्ग ५।३।५११ टी० प० ३४६

(ग) 'वेआवच्चे' त्ति वैयावृत्यं भक्तपानादिभिरुपष्टम्भः।

—औपपातिक टी० पृ० ८१

(घ) भगवती २५'७ पृ० २८०

(ङ) व्यावृत्तभावो वैयावृत्यम् उचित आहारादिसम्पादनम्।

—उत्तराध्ययन ३०।३३। बृहद्वृत्ति प० ६०८

(च) वैयावच्च वावडभावो, तह धम्मसाहणनिमित्तं।
अन्नाइयाण विहिणा, सम्पायणमेम भावत्थो॥

—उत्तराध्ययन ३०।३३ की नेमिचन्द्र टीका

(छ) व्यावृत्तभावो वैयावृत्यं।

—आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० ११६

(ज) व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्य, साधूनां, मुमुक्षूणा प्रासुकाहारोपधिशय्यास्तथा भेपजविश्रामणादिपु पूर्वत्र च व्यावृत्तस्य मनोवाक्कार्यैः शुद्धः परिणामो वैयावृत्त्यमुच्यते।

—तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेन टीका

७. दव्वेण भावेण वा, जं अप्पणो परस्स वा,
उवकारकरण त सव्व वेयावच्चं॥

—निशीथ चूर्णि ४।३७५

८. व्यापत्तिव्यपनोद. पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनाम्।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ११२

वैयावृत्य के दस प्रकार हैं—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) शैक्ष, (४) ग्लान (५) तपस्वी (६) स्थविर, (७) साधर्मिक (८) कुल (९) गण और (१०) संघ की वैयावृत्य करना।[१]

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर प्रभृति के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखना, उनकी आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करना सेवा है। तपस्वी को तप में सहयोग प्रदान करना और नव दीक्षित श्रमण को श्रामण्य धर्म के विधानों से परिचित कराना, व सहधर्मिकों को धर्म पथ पर अग्रसर करना, उनकी जीवन विधि के प्रत्येक चरण में सहायता देना। कुल, गण, संघ के उत्कर्ष के लिए सतत सन्नद्ध रहना, रुग्ण व्यक्तियों को रोग के उपादानों से परिचित कराना तथा औषधोपचार से स्वस्थ

---

१ वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते तं जहा—आयरिय वेयावच्चे, उवज्झायवेयावच्चे, सेहवेयावच्चे, गिलाणवेयावच्चे, तवस्सिवेयावच्चे थेरवेयावच्चे, साहम्मियवेयावच्चे, कुलवेयावच्चे, गणवेयावच्चे, संघवेयावच्चे।

—भगवती शतक २५, उद्दे० ७ सू० ८०२

(ख) वेयावच्चरतिवहुा वेयावच्चं दसविहं तं जहा—
आयरियउवज्झाने, थेर तवस्सी गिलाण-सेहाए।
साहम्मिय कुल गण, संघगयं तमिय कायव्वं ॥१॥

—आवश्यक चूर्णि, जिनदास प० १३४

(ग) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० ११६

(घ) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति।

(ङ) आचार्योपाध्याय तपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुसमनोज्ञानाम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९ सू० २४

(च) नवतत्व प्रकरण साथ पृ० १२९

(छ) नवतत्वप्रकरण, सुमंगला टीका-पत्र ११२-१

(ज) औपपातिक सूत्र।

(झ) स्थानांग।

(ञ) आयरिय उवज्झाए थेर तवस्सी गिलाण सेहाणं।
साहम्मिय कुल गण, संघगयं तमिह कायव्वं॥

—उत्त० ३०।३३ नेमिचन्द्रीय टीका

करना सेवा है। इनकी सेवा करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।[10]

पूर्वोक्त दस में से प्रत्येक की तेरह प्रकार से वैयावृत्य की जा सकती है। अतएव वैयावृत्य के १३० भेद होते हैं। भाष्यकार[11] व चूर्णिकार[12] ने उसके तेरह प्रकार यों बतलाए हैं—(१) भक्त, (२) पान (३) शय्या, (४) संस्तारक—आसनादि प्रदान करना, (५) क्षेत्र का प्रतिलेखन करना (६) पैरों का मार्जन करना, (७) ग्लान-रुग्णावस्था में औषध का लाभ देना, (८) मार्ग में थकावट आदि होने पर उसका निवारण करना, (९) राजादि के कोप भाजन बनने पर निस्तार करना, (१०) शरीर, उपधि आदि का संरक्षण करना, (११) अतिचार विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना (१२) ग्लान को समाधि उत्पन्न करना, (१३) तथा उच्चारप्रस्रवण आदि के पात्रों की व्यवस्था करना। ये सभी सेवा के विभिन्न प्रकार हैं।

---

१०. पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गन्थे महानिज्जरए, महापज्जवसाणे भवइ, तं जहा—अगिलाए आयरिय वेयावच्चं करेमाणे, एवं उवज्झाय वेयावच्चं, थेरवेयावच्चं तवस्सिवेयावच्चं, गिलाणवेयावच्चं करेमाणे।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा—अगिलाए सेहवेयावच्चंकरेमाणे, अगिलाए कुलवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए संघवेयावच्चं करेमाणे, अगिलाए साहंमिय वेयावच्चं करेमाणे।

—स्थानांग ५, सू० १२।उ० १

११. भत्ते पाणे सयणासणे य पडिलेह पायमच्छिमद्धाणे,
राया तेणे दण्डग्गहे य गेलण्ण मत्ते य।

—व्यवहार भाष्य

१२. त एक्केक्कं तेरसविहं त जहा (१) भत्ते, (२) पाणे, (३) आसण, (४) पडिलेहा, (५) पाद, (६) अच्छि, (७) भेसज्ज, (८) अद्धाण, (९) दुट्ठ, (१०) तेणे, (११) दंडग, (१२) गेलन्न (१३) मन्नति,

— आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ० १३४

भगवती सूत्र में मानसिक, वाचिक और कायिक दृष्टि से सेवा के तीन भेद किये गए हैं।[13]

स्व-सेवा, पर सेवा, और स्वपर सेवा के रूप में सेवा के तीन प्रकार और भी है।+ सेवा का अर्थ आज्ञा का पालन भी है। जब व्यक्ति आज्ञा की आराधना करता है तब वह अपनी सेवा करता है। आत्म गुणों का विकास करना स्वयं की सेवा करना है। दूसरे के आत्म गुणों के विकास में सहायता करना तथा उन्हें समाधि प्रदान करना पर सेवा है। स्वयं के सद्गुणों का विकास कर मानसिक समाधि प्राप्त करना और दूसरों को समाधि देना यह स्वपर-सेवा है।

वैयावृत्य जैन श्रमण की साधना का प्रमुखतम अंग रहा है। स्वाध्याय भी उसकी साधना का अङ्ग है, पर स्वाध्याय से भी वैयावृत्य को प्रमुखताप्रदान की गई है। शिष्य प्रभात के पुण्य पलों में सर्वप्रथम वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करता है और उसके पश्चात् गुरु के चरणारविन्दों में प्रणिधानकर नम्र निवेदन करता है—गुरुदेव! अब मुझे क्या करना चाहिए? आप चाहें तो मुझे वैयावृत्य में संलग्न कर दीजिये या स्वाध्याय में। गुरु, शिष्य को यदि वैयावृत्य में नियुक्त कर देते हैं तो वह ग्लानिभाव का परित्याग कर सेवा करता है।[14]

जैन संस्कृति का श्रमण शरीर के प्रति ममत्वभाव से प्रेरित होकर आहार नहीं करता। शरीर का पालन-पोषण करना उसका

---

१३ तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासति एवं वदासी।

—भगवती, शतक २ उद्देश, ५

+ (ख) स्थानाङ्ग, ठा० ३, सू० १८८।

१४ पुव्विल्लंमि चउब्भाग, आइच्चमि समुट्ठिए।
भंडयं पडिलेहित्ता, वन्दित्ता य तओ गुरु ॥
पुच्छिज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं।
इच्छं निओइउं भंते, वेयावच्चे व सज्झाए ॥
वेयावच्चे निउत्तेणं कायव्वमगिलायओ।

—उत्तराध्ययन अ० २६ गा० ८।९।१०

लक्ष्य नही है। वह छह कारणो से आहार ग्रहण करता है, उनमे द्वितीय कारण वैयावृत्य है। वैयावृत्य करने के पवित्र उद्देश्य से वह आहार-ग्रहण करता है[१५] क्योंकि आहार के अभाव में शरीर वैयावृत्य करने मे असमर्थ हो जाता है।

सेवा करने वालो के लिए आगमसाहित्य मे विशेष विधान किये गये है।

कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण मे एक विधान है कि वर्षावास-स्थित श्रमण को गृहस्थ के घर पर एक वार जाना कल्पता है। पुनः पुन गृहस्थ के घर जाना नही कल्पता। किन्तु आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, वालक, रुग्ण आदि श्रमणो की सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर सेवानिष्ठ मुनि को अनेकवार गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए जाना कल्पता है।[१६]

श्रमण संस्कृति के श्रमणो के लिए आचारांग[१७], वृहत्कल्प[१८] और

---

१५. वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए॥

—उत्तराध्ययन २६।३

१६. वासावास पज्जोसवियाण निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एग गोयरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पवेसित्तए वा, न ऽन्नत्य आयरियवेयावच्चेण वा उवज्झायवेयावच्चेण, तवस्सिगिलाणवे० खुडएणं वा अवंजणजायएण।

—कल्पसूत्र सू० २४० पृ० ७१ पुण्यविजय जी सम्पादित

१७. अब्भुगते खलु वासावासे अभिपवुट्ठे वहवे पाणा वहुवीया समूया वहवे वीया अणुब्भिन्ना अतरा से मग्गा वहुपाणा, वहुवीया, जाव ससंताणगा अणोक्कता पंथा णो विण्णाया मग्गा सेवं णच्चा णो गामाणुगाम दुइज्जेज्जा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा।

—आचारांग

१८. नो कप्पइ निग्गथाण निग्गंथीणं वा वासावासासु चरित्तए।

—वृहत्कल्प उद्दे० १, सू० ३६-३७

निशीथ[19] आदि आगम साहित्य मे यह स्पष्ट विधान है कि वह वर्षावास मे जीवो की दया के लिए रक्षा के लिए, एक स्थान पर स्थिर होकर सयम साधना करे। वर्षाऋतु मे ग्रामानुग्राम विहार न करके पवन रहित स्थान मे रहे। आगमिक भाषा मे उसे प्रतिसलीनता तप कहा है—'वासासु पडिसलीणा।"[20] श्रमण प्रस्तुत विधान का उल्लघन कर यदि ग्रामानुग्राम विहार करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[21]

स्थानाङ्ग सूत्र मे उपयु क्त विधान से भिन्न द्वितीय विधान यह है कि श्रमण वर्षावास मे भी पाँच कारणो से विहार कर सकता है। उसमे एक कारण आचाय उपाध्याय प्रभृति की सेवा है। आचार्य उपाध्यायादि का अन्यत्र वर्षावास है। उन्हे सेवा के लिए आवश्यकता है तो श्रमण विहार कर उनका सेवा के लिए जा सकता है, या वे जहाँ आदेश दें, सेवा के लिए, वहा जा सकता है।[22] सेवा के लिए

---

१९ निशीथ सूत्र, उद्देशा २, सू० ४१।

२० (क) सदा इ दियनोइ दियपरिसमल्लीणा विसेसए सिणेहसघट्ट परिहरणत्थ णिवातलतणगता वासासु पडिसलीणा ना गामाणुगाम दूतिज्जति।

—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) वासासु पडिसलीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थ, तवविसेसेसु उज्जमति ना गामनगराइसु विहरति।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि प० ११६

(ग) वर्षाकालेषु सलीना, सलीना इत्यकाश्रयस्था भवन्ति।

—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति प० ११६

२१ जे भिक्खु पढमपाउससि गामाणुगाम दूइज्जइ दूइज्जत वा साइज्जइ।

—निशीथ उद्द २ सू० ४१

२२ कप्पइ पचहि ठाणेहि निग्गथाण निग्गथीण वा पढमपाउससि गामाणुगाम दूइज्जत्तए तजहा णाणट्ठयाए दसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए आयरियउवज्झायाण वा से वीसु भेज्जा, आयरिय उवज्झायाण वा वहिया वयावच्च करणयाए।

—स्थानाङ्ग ५, स्थान

यदि श्रमण वर्षावास मे विहार करता है तो उसे प्रायश्चित्त नही आता। हाँ, सेवा का प्रसंग समुपस्थित होने पर भी यदि वह विहार नही करता है तो प्रायश्चित्त का भागी है। कितना गहरा है सेवा का महत्त्व। आचार्य जिनसेन ने तो सेवा को तप का हृदय माना है।[२३]

परिहार विशुद्ध चारित्र को आराधना और साधना भी विना वैयावृत्य के संभव नही है। आगम साहित्य मे परिहार विशुद्ध चारित्र की विधि इस प्रकार है—"नौ पूर्वो तक, या दशवे पूर्व की तृतीय आचार वस्तु तक अध्ययन करने वाले नौ साधु, अध्ययन के पश्चात् तीर्थङ्कर या जिन्होने तीर्थङ्कर के सान्निध्य मे परिहारविशुद्ध चारित्र की साधना की है उन विशिष्ट साधको के सान्निध्य, में परिहार विशुद्ध चारित्र को स्वीकार करते हैं। उन नौ श्रमणो मे से प्रथम चार श्रमण यदि उष्ण काल हुआ, तो उत्कृष्ट अष्टम भक्त की आराधना करते हैं। यदि शीत काल हुआ तो जघन्य षष्ट भक्त, मध्यम अष्टम भक्त और उत्कृष्ट दशम भक्त की आराधना करते है। यदि वर्षा काल हुआ तो जघन्य अष्टम भक्त, मध्यम दशम भक्त, और उत्कृष्ट द्वादश भक्त की तपश्चर्या करते हैं। अवशेष पाच श्रमणों मे से एक श्रमण प्रवचन करता है और चार श्रमण पाँचो की सेवा करते हैं। तप करने वाले श्रमण पारिहारिक कहलाते है और वैयावृत्य करने वाले अनुपारिहारिक कहलाते है।[२४] प्रवचन करने वाला साधु, जो

---

२३. स वैयावृत्यमातेने व्रतस्थेष्वामयादिषु।
अनात्मतरको भूत्वा तपसो हृदयं हि तत्॥
—महापुराण ७२।११।२३३

२४. से किंतं परिहारविशुद्धिय चरित्तारिया? परिहार विशुद्धि चरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—निव्विस्समाण परिहार विसुद्धिय चरित्तारिया। निव्विट्ठकाइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य। सेत्तं परिहार विसुद्धिय चरित्तारिया।
—पन्नवणा पद १ पृ० १०५

त दुविगप्प निव्विस्समाण- निव्विट्ठकाइयवसेण।
परिहारियाऽणुपरिहारियाण कप्पट्ठियस्सवि य॥

गुरुस्थानीय होता है, कल्पस्थित कहलाता है। प्रस्तुत क्रम छह माह तक चलता है। उसके पश्चात् चारों तप करने वाले श्रमण वैयावृत्य करते हैं वैयावृत्य करनेवाले तप तपते हैं। प्रवचन करने वाला श्रमण पूर्ववत् ही प्रवचन करता है। छह माह पूर्ण होने पर प्रवचन करने वाला तप करता है और आठ श्रमणों में से एक प्रवचन करता है, शेष सातों श्रमण सेवा करते हैं।[२५] छह मास तक तप कर चुकने वाले निर्विष्टकायिक कहलाते हैं और जो तप कर रहे हों वे निविश्यमानक कहे जाते हैं।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर वडाई स्थविर का वर्णन है। वड़ाई स्थविर सेवा के जीते जागते सजग प्रहरी होते थे। सेवा करना उनके जीवन का प्रमुख ध्येय होता था। वे सेवा की प्रशस्त भावना से प्रेरित होकर संथारा और संलेखना करने वाले के साथ पर्वतादि पर जाते थे। कहा जाता है कि जब तक संथारा करने वाले का संथारा पूर्ण नहीं होता था तब तक वे स्वयं भी आहारादि ग्रहण नहीं करते थे और अग्लान भाव से उसकी सेवा करते थे।[२६]

परिहारो पुण परिहारियाण सो गिम्ह सिसिर वासासु।
पत्तेयतितिविगप्पो चउत्थयाई तवो नेओ॥
गिम्ह सिसिर-वासासु चउत्थयाईणि बारसंताइं।
अड्ढापक्कंतिए जहण्णा मज्झिममुक्कोसयतवाणं॥
सेसा उ नियमभत्ता पाय भत्तं च ताणमायामं।
होइ न उण्हंवि नियमा ॥ कप्पए भत्तय सव्व॥
परिहारिया अणुपरिहारियाण कप्पट्ठियस्स वि य भत्तं।
छ छम्मासा उ तवो अट्ठारसमासिओ कप्पो।

—विशेषावश्यक भाष्य, प्रथम भाग गा० १२७१ से १२७५ पृ० ४५८-४६०
प्रकाशक—आगमोदयसमिति

२५ पन्नवणा टीका, पृ० १०२-१०३ अमोलक ऋषि जी।

२६ तहारूवेहिं कडाईहिं थेरेहिं सद्धिं विउलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहइ दुरूहित्ता ... तएणं ते थेरा भगवंतो मेहस्स अणगारस्स अगिलाए वेयावडियं करेंति।

—ज्ञातासूत्र, अ० १ सू० ४६

ओघनिर्युक्तिकार ने श्रमणों के लिए विधान किया है कि जब श्रमण शारीरिक दृष्टि से सक्षम हो जाय, भिक्षा लेने के लिए जाने मे समर्थ हो जाय तो सर्वप्रथम उस साधक का कर्त्तव्य है कि ग्लान श्रमण की मन लगाकर सेवा करे।[२७]

निर्युक्तिकार ने स्पष्ट कहा है कि 'चरण-करण में प्रमाद का आचरण करने वाले, सयमीय सद्भाव से विमुख, पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, निर्ग्रन्थों की भी कारण वशात् सेवा की जा सकती है, तो फिर विवेकी जितेन्द्रिय मन, वचन और काया को गोपन करने वाले उद्यतविहारी मोक्षाभिलाषी की तो हर प्रयत्न से सेवा करनी ही चाहिए।[२८]

वृद्धों की सेवा करने वाले पुरुषो को ही चारित्र आदि सम्पदा प्राप्त होती है और क्रोधादि कषायो से कलुषित बना मन भी निर्मल हो जाता है।[२९]

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान श्री महावीर ने कहा—वैयावृत्य से जीव तीर्थङ्कर नाम गोत्र का बंध करता है।[३०] केवल ज्ञान तो कोई भी विशिष्ट साधक प्राप्त कर सकता है, पर तीर्थङ्कर बनने के लिए लम्बी साधना करनी पड़ती है। साधना के जितने भी पथ है उन सभी मे सेवा का पथ सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि सेवा

---

२७. कुज्जा गिलाणगस्स उ पढमालिअ जाव बहिगमणं।
—ओघनिर्युक्ति, ग्लान द्वार

२८. जइता पासत्थोसण्ण कुसीलनिण्हवगाणंपि देसिअ करणं।
चरणकरणालसाणं सब्भावपरमुहाणं च ॥
—ओघनिर्युक्ति ४८

२९. वृद्धानुजीविनामेव, स्युश्चारित्रादिसम्पदः।
भवत्यपि च निर्लेपं, मनः क्रोधादिकश्मलम् ॥
—ज्ञानार्णव प्र० १५ श्लोक १९

३०. वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयई!
वेयावच्चेणं जीवे तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ।
—उत्तराध्ययन अ० २९ प्रश्न० ४३

धर्म परम गहन माना गया है, उस पर चलते समय योगियों के कदम भी लड़खड़ा जाते हैं।[31] किन्तु यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि सुमना की सुमधुर सौरभ वहीं प्राप्त होती है। कहावत भी है "करे सेवा, पावे मेवा।"

अन्य सभी गुण प्रतिपाती हैं, वे मानवजीवन के अन्त तक ही साथ रहते हैं, पर वैयावृत्य अप्रतिपाती है। वह दूसरे जन्म में भी साथ रहता है। संयम साधना से भ्रष्ट होने पर अथवा मृत्यु प्राप्त होने पर चारित्र की चारु-चन्द्रिका नष्ट हो जाती है। स्वाध्याय के अभाव में पठित शास्त्र भी विस्मृति के अंचल में छिप जाते हैं किन्तु वैयावृत्य से प्राप्त शुभ फल कभी भी नष्ट नहीं होता। वह अवश्य ही प्राप्त होता है।[32]

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है "एक तरफ मानव सौ वर्षों तक जंगल में अग्नि की परिचर्या करे और दूसरी तरफ पुण्यात्मा की क्षणभर भी सेवा करे वह सेवा सौ वर्ष तक किये गये यज्ञ से कहीं उत्तम है।"[33]

सदा वृद्ध महानुभावों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की आयु, सौन्दर्य, सुख और बल ये चार वस्तुएं वृद्धि को प्राप्त

---

३१ सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य ।

—पंचतंत्र विष्णुशर्मा

३२ वेयावच्चं नियमं करेह, उत्तरगुणे धरंताणं ।
सव्वं किल पडिवाइ, वेयावच्चं अपडिवाई ॥
पडिभग्गस्स मयस्स वा, नासइ चरणं सुयं अगुणणाए ।
न हु वेयावच्चचियं, सुहोदयं नासए कम्मं ॥

—ओघनिर्युक्ति ५३२।५३३

३३ यश्च वर्षशतं जन्तुरग्निं परिचरेद् वने ।
एकं च भावितात्मानं, मुहूर्तमपि पूजयेत् ॥
तदेव पूजनं श्रेयो न तु वर्षशतं हुतम् ॥

—धम्मपद (संस्कृत छाया) १०७

होती है।[३४] अतः प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है कि वह श्रेष्ठ सद्गुणों के धारक महापुरुषों की निरन्तर सेवा करे।

हिन्दी साहित्य के एक सन्त कवि ने भी बड़ी सुन्दरता से कहा है कि "सन्त की सेवा करने से परमात्मा भी प्रसन्न होता है।"[३५]

सेवा से ही ज्ञान का अखण्ड प्रकाश प्राप्त होता है। आगम-साहित्य का मन्थन करने वाला प्रत्येक जिज्ञासु यह जानता है कि गणधर गौतम और जम्बू आदि ने जो ज्ञान की निर्मल ज्योति प्राप्त की थी, उसके अन्तस्तल में उनकी सेवा ही प्रमुख थी। सेवा से प्राप्त ज्ञान शतशाखी के रूप में विस्तृत हो सकता है।[३६]

ग्लान श्रमण की सेवा करना स्वयं भगवान् की सेवा करने के समान है। गौतम महावीर से प्रश्न करते हैं—भगवन्! जो मनुष्य ग्लान की सेवा कर रहा है वह धन्य है अथवा जो मनुष्य दर्शन के द्वारा आपको स्वीकार कर रहा है वह धन्य है?

---

३४. अभिवादनसीलस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलम्॥

—धम्मपद १०९

(ख) अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।

—मनुस्मृति, अध्याय २ श्लोक १२१

३५. सन्तन की भक्ति किया, प्रभु रीझत है आप।
जांका बाल खेलाइये, ताका रीझे बाप॥

(ख) ज्ञातासूत्र अ० १ सू० ३.

(ग) भगवती श० ५, उ० ४, सू० ५

३६. जे आयरिय उवज्झायाण सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढाति, जल-सित्ता इव पायवा॥

—दशवैकालिक अ० ९-२ गा० १२

उत्तर मे भगवान् कहते हैं—गौतम ! जो मनुष्य ग्लान की सेवा रहा है वह धन्य है।[37]

गौतम की जिज्ञासा ने पुन वाणी का रूप लिया "भगवन् ! आप यह किस हेतु से कह रहे हैं ?"

समाधान की भाषा मे उत्तर मिला—गौतम ! जो ग्लान की सेवा कर रहा है वह मेरी सेवा कर रहा है, और जो मेरी सेवा कर रहा है, वह ग्लान की सेवा कर रहा है। अरिहन्त का दर्शन अरिहंत की आज्ञा का पालन करना है। अर्थात् अरिहंत के दर्शन का सार है—अरिहन्त की आज्ञा का पालन करना। अत हे गौतम ! मैंने ऐसा कहा कि जो मनुष्य ग्लान की सेवा कर रहा है, वह दर्शन से मुझे स्वीकार कर रहा।[38] वही मेरा सच्चा उपासक है।

महात्मा बुद्ध ने भी एक रुग्ण भिक्षु को दर्द से छटपटाते देखकर आनन्द आदि प्रधान श्रमणो को सम्बोधितकर कहा था—आनन्द, सर्व-

---

३७ किं भंते ! जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने ? उदाहु जे तुमं दंसणेण पडिवज्जइ ?

गोयमा ! जे गिलाणं पडियरइ।

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ६६१

(ख) जो गिलाणं पडियरइ सो मं पडियरइ।
जो मं पडियरइ सो गिलाणं पडियरइ॥

—ओघनियुक्ति, भाष्य गा० ६२

(ग) जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने

(घ) उत्तराध्ययन, सर्वार्थ सिद्धि, परीषह अध्ययन,

३८ से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ ?

जे गिलाणं पडियरइ से मं दंसणेणं पडिवज्जइ,

जे मं दंसणेण पडिवज्जइ से गिलाणं पडियरइ त्ति आणाकरणसारं खु अरहंताणं दंसणं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जे गिलाणं पडियरइ से मं पडिवज्जइ जे मं पडिवज्जइ से गिलाणं पडिवज्जइ।

—आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति पृ० ६६१-६२

प्रथम रुग्ण भिक्षुओं की सेवा करे। जिनको मेरी सेवा करनी हो वे पीड़ितों की सेवा करे।[३९]

एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है—गरीबों की सेवा ईश्वर की सेवा है।[४०]

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए वशिष्ठ ने कहा—जिस किसी भी तरह मन, वचन और काय से किसी की सेवा करना ईश्वरपूजा है।[४१]

भगवान् का एक नाम दीनबन्धु है। उन्हें 'दीनानाथ" भी कहते हैं। दीन और रुग्ण की सेवा करना साक्षात् जीवित भगवान् की सेवा करना है। नरसेवा ही नारायणसेवा है।

प्रश्न है कि जब सेवा का इतना गहरा महत्त्व है और जैन-साहित्य में भी सेवा का इतना उल्लेख है तो जैन संस्कृति के श्रमण को तो निःसंकोच भाव से सभी की सेवा करनी चाहिए, चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण हो।

उत्तर है कि जैन संस्कृति के श्रमण की अपनी मर्यादा है। उसका अपना कर्मक्षेत्र है। मर्यादा में रहकर वह गृहस्थ की द्रव्य सेवा नहीं किन्तु भाव सेवा कर सकता है। भाव सेवा का महत्त्व भी कम नहीं है। यदि श्रमण अपने श्रमण-धर्म की मर्यादा को भूलकर गृहस्थ की द्रव्य सेवा करता है तो वह श्रमण के लिए अनाचार है।[४२]

(ख) जो गिलाणं पडियरइ से मज्झं णाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं पडिवज्जइ —बृहत्कल्प सूत्र, लघुभाष्य

(ग) उत्तराध्ययन सर्वार्थ-सिद्धि, परीषह अध्ययन

(घ) आणाराइणं दंसण खु जिणाणं,

३९. विनय पिटक ८।७।६।का सारांश,

४०. Service of poor is the service of GOD

४१. येन केन प्रकारेण, यस्य कस्यापि देहिनः।
सतोष जनयेद् राम !, तदेवेश्वरपूजनम् ॥

४२. गिहिणो वेयावडियं,
—दशवैकालिक अ० ३ गा० ६

श्रमण का कर्त्तव्य है कि सयमशील श्रमण की सेवा करे। ग्लान साधु की सेवा करने से तीर्थ की अनुवर्तना होती है और तीथङ्कर देव की भक्ति होती।[४३] आचार्य का भी कर्त्तव्य है कि सद्धर्मी के रोगी होने पर उसकी यथा शक्ति सेवा करे।[४४] जो सघ सेवा शुश्रूषा की भावना को नही जानता है उसे प्रश्रय नही देना है, जिस सघ के आचार्य अपने सघ के सदस्यो की सुख दुख निवारण की विधि नही जानते, रोगी की चिकित्सा मे अनभिज्ञ हैं यह सघ छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो जाता है।[४५]

सघसमुत्कर्ष के लिए अपेक्षित है कि सघ का प्रत्येक सदस्य सेवानिष्ठ हो। नन्दिषेण[४६] मेघकुमार[४७] बाहु,[४८] और सुबाहु[४९] मुनि

(ख) गिहिणो वेयावडिय न कुज्जा।

—दशवैकालिक दूसरी चूलिका गा० ६

(ग) 'गृहिणो' गृहस्थस्य वैयावृत्त्य गृहिभावोपकाराय तत्कमस्वात्मनो व्यावृत्तभाव न कुर्याद्, स्वपरोभयाश्रेय समायोजन दोषात्।

—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति प० २८१

४३ तित्थाणुसज्जणा खलु भत्ती य कया हवइ एव।

—बृहत्कल्पसूत्र, लघुभाष्य गा० १८७८

४४ साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथाम वेयावच्च अब्भुट्ठित्ता भवई।

—दशाश्रुतस्कध, चतुर्दशा

४५ उप्पण्णेण गेलाणे जो गणधारी न जाणई तेगिच्छ।
दीस ततो विणासो सुह दुक्खा तेण उच्छटा॥

—व्यवहार भाष्य ५।१२८

४६ उत्तराध्ययन टीका—कथा।

४७ अज्जप्पभिईण भते! मम दो अच्छीणि मोत्तूण।
अवसेसे काए समणाण निग्गथाण निसट्ठे।

—ज्ञातृधर्म कथा अ० १

४८ आवश्यक चूर्णि पृ० १३२

(ख) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० २१६

(ग) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र १।१।६०६, आचार्य हेमचन्द्र कृत

की तरह संघ के प्रत्येक सदस्य के जीवन के कण-कण में सेवा की विराट् भावना अठखेलियाँ करती रहे। सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर सच्चे सेनानी की तरह सदा तत्पर रहे, बगलें न झांके। यदि वह झांकता है तो प्रायश्चित्त का अधिकारी है।

जो श्रमण श्रमण की ग्लानता सुनकर भी उसकी उपेक्षा करता है तो उसे [सविस्तार] गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।[५०]

यदि कोई समर्थ साधु बीमार साधु को छोड़कर अन्य किसी कार्य मे लग जाय, बीमार की सार-संभाल न करे, तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।[५१]

रास्ते में जाते हुए, गाँव मे प्रवेश करते हुए अथवा भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए श्रमण को यदि किसी मुनि की ग्लानावस्था की सूचना प्राप्त हो तो वह आवश्यक कार्य को छोड़कर उसके पास सेवा के लिए पहुँचे। यदि वह नही पहुँचता है तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[५२]

एक श्रमण विहार कर जा रहा है। उसे जिस स्थान पर पहुँचना है, वहाँ स्वगच्छ का अथवा परगच्छ का श्रमण ग्लान है, वहाँ पहुँचने

(घ) देखिए लेखक का 'ऋषभदेव : एक परिशीलन' ग्रन्थ।

४९. आवश्यक् चूर्णि, पृ० १३३

(ख) आवश्यक नियुक्ति मलयगिरि वृत्ति।

(ग) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति पृ० २१६

(घ) त्रिषष्टि० १।१।६०६

५०. जो उ उवेह कुज्जा लग्गइ गुरुए सवित्थारे।

—बृहत्कल्प सूत्र भाष्य १८७५

५१. जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ, न गवेसंतं वा साइज्जइ.......आवज्जइ चउम्मासियं परिहार ठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ १।३७

५२. सोऊण उ गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
जइ तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गरुय स चउमासे॥

—बृहत्कल्पसूत्र भाष्य १८७२

पर मुझे उनकी शुश्रूषा करनी पड़ेगी, इस भावना से यदि वह श्रमण उस स्थान को छोड़कर अरण्य में होकर जाने का मार्ग ग्रहण करता है, अथवा जिस मार्ग से आया उसी मार्ग से पुनः लौटने का प्रयत्न करता है तो उसे आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना आदि दोष लगते हैं।[53]

यदि कोई श्रमण अपने साथी मुनि की अस्वस्थता की उपेक्षा कर तपश्चरण करता है, शास्त्र स्वाध्याय करता है तो वह भी प्रायश्चित्त का अधिकारी है। वह गण में रहने के अयोग्य है। सेवा से जी चुराना अपने आत्म गुणों का हनन करना है। और साथ ही संघीय मर्यादा की उपेक्षा करना है, जो सबसे बड़ा पाप है।

दशाश्रुतस्कन्ध, समवायांग और आवश्यक सूत्र में महामोहनीय कर्म बन्धन के तीस प्रकार बताये हैं। अष्ट कर्म प्रकृतियों में मोहनीय कर्म सबसे अधिक पतन का कारण है। जब दुरध्यवसाय की तीव्रता एवं क्रूरता अधिक मात्रा में बढ़ जाती है तब महामोहनीय कर्म का बंध होता है, अर्थात् उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागर तक की स्थिति वाले मोहनीय कर्म का बंध करता है। प्रस्तुत तीस भेदों में बाईसवां और पच्चीसवां भेद सेवा न करने के सम्बन्ध में है। सेवा न करने से, और सेवा के प्रति उपेक्षा रखने से आत्मा का कितना भयंकर पतन होता है, वह इस से स्पष्ट है।

आचार्य और उपाध्याय की जो सम्यक् प्रकार से सेवा नहीं करता वह अप्रतिपूजक और अहंकारी होने से महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।[54]

---

५३ सोऊण उ गिलाणं उम्मग्गं गच्छ पडिवहं वावि ।
मग्गाओ वा मग्गं, संकमई आणमाईणि ॥

—बृहत्कल्प निर्युक्ति भाष्य १८७१

५४ आयरिय—उवज्झायाणं सम्मं नो पडितप्पइ ।
अप्पडिपूयए थद्धे, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशाश्रुत स्कंध, ९ दशा, गा० २२

जो शक्ति होने पर भी दूसरों की सेवा नहीं करता है और कहता है—'जब मैं रुग्ण हुआ था, तब इसने भी मेरी सेवा नहीं की थी। मैं क्यों करूं? यदि वह व्यथा मे व्यथित है तो भले ही हो, मुझे क्या गर्ज है?' ऐसा विचार करने वाला भी महामोहनीय कर्म का बंधन करता है।[५५]

आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सेवा को ही भक्ति माना है। आचार्य के सम्मान में खड़ा होना, दण्ड ग्रहण करना, पांव पोछना, आसन देना आदि जो सेवा है, वही भक्ति है।[५६]

राजेन्द्र कोपकार ने सेवा का अर्थ भक्ति और विनय किया है।[५७] उमास्वाति ने विनय के ज्ञान दर्शन, चारित्र और उपचार ये चार भेद किये हैं।[५८] इनमे उपचार का अर्थ आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि मे आचार्य के पीछे चलना, सामने आने पर खड़ा होना, अंजलिबद्ध होकर

(ख) समवायाग सम० ३०

(ग) आवश्यक अ० ४

५५. साहारणट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिए।
पभू न कुणइ किच्चं, मज्झं पि से न कुव्वइ॥
सढे नियडी-पण्णाणे, कलुसाउल—चेयसे।
अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ॥

—दशाश्रुत स्कन्ध, ६ दशा, गा० २५।२६

(ख) समवायांग सम० ३०

(ग) आवश्यक अ० ४

५६. अब्भुट्ठाणदंडग्गहण-पायपुच्छणासणप्पदाणगहणादीहिं सेवा जा सा भक्ति।

—निशीथ चूर्णि

५७. सेवाया भक्तिर्विनयः।

—राजेन्द्र कोष

५८. ज्ञान दर्शन चारित्रोपचाराः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६, सू० २३

नमस्कार करना किया है। जो सेवा ही है। आचार्य कौटिल्य ने वैयावृत्य का अर्थ परिचर्या किया है।[५९]

सेवा आत्म साधना का अपूर्व उपाय है, नर से नारायण बनने की श्रेष्ठ कला है। सेवा करने वाला, सेवा करानेवाले से महान् होता है। शिर सेव्य है और पैर सेवक है। सेव्य ही सेवक के चरणों में झुकता है। राम सेव्य थे, और हनुमान सेवक थे। हनुमान के उपासना गृह (मन्दिर) प्रायः प्रत्येक गाँव में मिलते हैं, किन्तु राम के क्वचित् ही। हनुमान की यह लोकप्रियता सिद्ध करती है कि सेव्य से भी सेवक अधिक जन मन प्रिय होता है। गांधी जी के शब्दों में "सेवा से बढ़कर व्यक्ति को प्रवित्त करने वाली और कोई चीज संसार में नहीं है।[६०]

ज्ञातृधर्म कथा का एक मधुर प्रसंग है। सेवामूर्ति पंथक मुनि की सेवानिष्ठा ने शैलकराजर्षि के जीवन को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया। उन्होंने न केवल द्रव्यनिद्रा से बल्कि भावनिद्रा से भी जागृतकर दिया था।[६१]

आज सेवा का नारा एक किनारे से दूसरे किनारे तक गूंज रहा है। सेवकों की भरमार है, पर सेवा में जैसी चाहिए वैसी चमक पैदा नहीं हो रही है। इसका कारण है प्रेम और तन्मयता का अभाव। कर्त्तव्य की दृष्टि से जो सेवा की जाती है, उसमें समर्पण एवं आत्मोत्सर्ग ही प्रमुख होता है। उसमें बदले की चाह नहीं होती। वह घड़ी के कांटे की तरह निरन्तर चलती रहती है।

---

५९ तद्वैयावृत्यकराणामध्यक्षः । व्याख्या—तद्वैयावृत्यकराणां तस्य वैयावृत्यकारा विनेयण आमभन्नावन्त इति । व्यावृत्त परिचारक तस्य कर्म वैयावृत्य परिचर्या तत कुर्वन्त परिचारका तेषा अधदण्ड । कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २ प्रकरण २३।२०

६० गांधी जी की सूक्तियाँ पृ० ११२

६१ णायाधम्मकहाओ श्रु०स० १ अ० ५

प्रेम की जिस उर्वर भूमि से कर्त्तव्य का जन्म होता है वह कर्त्तव्य सेवा है। मा पुत्र की सेवा करती है। अपने आपको पुत्र की सेवा में विस्मृत कर देती है। भूख प्यास भूल जाती है। एतदर्थ ही उसकी सेवा उच्च कोटि की गिनी गई है। जिस सेवा मे आत्म-भाव का अभाव होता है उसमे तोलने की बुद्धि रहती है, और जहाँ पर तोल है, वहाँ हृदय के माधुर्य का मोल कम हो जाता है। अतः भारतीय संस्कृति साधक के अन्तर्हृदय में सेवा की सही ज्योति जगाती है और सेवक के हृदय मे आत्मार्पण की भव्य भावना पैदा करती है। अग्लान भाव से सेवा करने को उत्प्रेरित करती है।[९२]



९२. गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चं करणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।

—स्थानाङ्ग, स्थान ८, सूत्र ९२

दस | धर्म का प्रवेशद्वार : दान

दान, धर्मरूपी भव्य भवन का प्रवेशद्वार है।[1] हृदय की उदारता का पावन प्रतीक है। मन की विराट्ता का द्योतक है, जीवन के माधुर्य का प्रतिबिम्ब है।

डुदान् धातु से अन् प्रत्यय लगकर दान शब्द निष्पन्न हुआ है। जो दिया जाता है वह दान है।[2] आचार्य शंकर ने दान का अर्थ संविभाग किया है।[3] आचार्य उमास्वाति ने—अपनी आत्मा और पर के अनुग्रह के लिए त्याग करना दान माना है।[4]

उक्त मान्यता द्वारा यह ध्वनित किया गया है कि दाता अपने दान से पर का ही उपकार नहीं करता वरन् स्वयं भी उपकृत होता है। इस प्रकार दाता आदाता को उपकृत करता है तो आदाता भी दाता को उपकृत करता है। आखिर आदाता ही तो दाता को दान धर्म का

---

१ प्रार्थना साधक को ईश्वर के मार्ग पर आधी दूरी तक पहुंचायगी, उपवास महल के द्वार तक ले जायगा और दान महल में प्रवेश करायगा।

—मुहम्मद

२ दीयत इति दानं।

३ दानं संविभागः।

—आचार्य शंकर

४ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७। सू० ३८

अवसर प्रदान करता है। दान की इस व्याख्या को हृदयंगम कर लेने वाले दाता के मन में अहंकार उत्पन्न न होगा। और यह निरहंकार भाव ही दान का आभूषण है। इसी से दान के पूर्ण फल की प्राप्ति होती है।

दान धर्म है।[५] दान शील, तप और भावना ये धर्म के चार आधार स्तम्भ है।[६] दान उनमें प्रथम है और सबसे अधिक आसान है। आज दिन तक जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं वे सभी संयम ग्रहण करने के पूर्व एक वर्ष तक सूर्योदय से लेकर प्रातः कालीन भोजन तक एक करोड आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान देते रहे हैं।[७] वे एक वर्ष में तीन अरब, अठासी करोड, और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान

---

५. दानं धर्मः।

—कौटिल्य

६. सो धम्मो चउभेओ, उवइट्ठो सयलजिणवरिदेहिं।
दाणं सीलं च तवो, भावो विअ तस्सिमे भेया॥

(ख) दुर्गतिप्रपतज्जन्तु—धारणाद् धर्म उच्यते।
दान-शील तपो-भाव—भेदात् स तु चतुर्विधः॥

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १।१।१५२

(ग) दानं सील च तवो, भावो एवं चउव्विहो धम्मो।
सव्वजिणेहिं भणिओ तहा दुहा सुअचरित्तेहिं॥

—सप्ततिशतस्थान प्रक०, गा० ९६, सोमतिलक सूरि

७. संवच्छरेण होहिति, अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदाणं।
तो अत्थि संपदाणं, पव्वत्ती पुव्वसूराओ॥
एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणया सयसहस्सा।
सूरोदय-मादीय, दिज्जइ जा पायरासोत्ति॥

—आचारांग द्वि० श्रु० अ० २३ गा० ११२।११३

(ख) एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा।
सूरोदयमाईयं, दिज्जइ जा पायरासाओ॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० २३६ भद्रबाहु

(ग) त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र १।३।२३

देते हैं।[8] दान ग्रहण करने के लिए जो भी सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य, भिक्षु आदि आ जाते हैं उन्हें वे बिना भेद भाव के दान देते हैं।[9] संयम लेने के पश्चात् अन्य तीन धर्मों का आराधन हो सकता है पर दान नहीं दिया जा सकता है। अतः तीर्थङ्कर प्रथम दान देकर संसार को दान देने का उद्बोधन देते हैं। वैदिक ऋषि के शब्दों में उनका प्रस्तुत आचरण यही प्रेरणा देता है कि, "यदि तुम सौ हाथों से इकट्ठा करते हो तो हजार हाथों से बाँट दो।"[10] दान करने में गौरव प्राप्त होता है, धन का संचय करने से नहीं। जल का दान करने वाला मेघ सदा ऊपर रहता है और संग्रह करने वाला समुद्र नीचे रहता है।[11] भर्तृहरि ने कहा है।—'दान, भोग और नाश ये तीन धन की गतियाँ हैं। जो न देता है और न भोगता ही है, उसका धन नष्ट हो जाता है।'[12] और जब नष्ट हो जाता है तो धन का स्वामी मधु

---

८ तिण्णेव य कोडिसया, अट्ठासीई य होंति कोडीओ।
असियं च सयसहस्सा, एयं संवच्छरे दिण्णं॥

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० २४२

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १।३।२४ प० ६८

(ग) आवश्यक भाष्य गा० ८५ पृ० २६०

९ तते णं मल्ली अरहा कल्लाकल्लिं जाव मागहओ पायरासोत्ति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंथियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेगं हिरण्णकोडिं अट्ठ य अणूणाइं सयसहस्साइं इमेयारूवं अत्थसंपदाणं दलयति।

—ज्ञातृधर्म अ० ८ । सू० ७६

१० शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

—अथर्ववेद

११ गौरवं प्राप्यते दानात् न तु वित्तस्य संचयात्।
स्थितिरुच्चैः पयोदानां, पयोधीनामधः स्थितिः॥

१२ दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

—नीतिशतक श्लो० ४३

मक्खी की तरह हाथ मलकर शिर धुनता हुआ पश्चात्ताप करता है।[13] इसके विपरीत जो उदारमना होते है वे कर्ण की तरह देने में ही आनन्द की अनुभूति करते है। जिन आत्माओं को नीचे जाना होता वे धन को निम्न कार्यों मे खर्च करते है और जिनको ऊपर जाना होता है वे धन को सन्मार्ग मे व्यय करते हैं।

किसान पहले खेत को रेशम की तरह मुलायम करता है, उसके पश्चात् उसमे बीज बोता है। हृदय रूपी खेत को भी दान देकर मुलायम कीजिये, फिर अन्य व्रतादि रूपी बीज बोइये।

श्रावक का जीवन उदार होता है, हृदय विराट् होता है। उसके घर का द्वार तुङ्गिया नगरी के श्रावको की तरह सदा खुला रहता है।[14] जो भी अतिथि, अभ्यागत उसके द्वार पर आता है, उसका वह हृदय से स्वागत करता है और आवश्यक वस्तु प्रसन्नता से प्रदान करता है। देना ही उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। देने से समाधि उत्पन्न होती है और समाधि के कारण उसे भी समाधि प्राप्त होती है।[15]

आगम साहित्य का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी सहज ही जान सकता है कि गणधर गौतम ने जब कभी भी किसी व्यक्ति को विपुल वैभव सम्पन्न देखा तब उन्होने भगवान् श्री महावीर के समक्ष यह

---

१३. देयं भोज ! धन धन सुकृतिभिर्नो सचितं सर्वदा।'
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्ति. स्थिता।
आश्चर्यं मधुदानभोगरहित नष्ट चिरात् सञ्चितम्।'
निर्वेदादिति पाणिपादयुगलं, घर्षन्त्यहो मक्षिकाः॥

—(कालीदास) चाणक्यनीति अ० ११

१४. ऊसिअफलिहे, अवंगुअदुवारे।

—भगवती शतक २, उद्दे० ५

१५. समणोवासए णं तहारूवं समणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलभइ।

—भगवती शतक ७, उ० १, सू० २६३

जिज्ञासा प्रस्तुत की भगवन् ! इस व्यक्ति ने पूर्वभव में क्या दान दिया था जिसके कारण इसे अतुल सम्पत्ति सम्प्राप्त हुई है ?[16] समाधान करते हुए भगवान् उसके दानसम्बन्धी पूर्वभव के सुनहरे संस्मरण सुनाते हैं।[17] दान से जीव साता वेदनीय कर्म का बन्धन करता है। +

दान के दिव्य प्रभाव से ही श्री ऋषभदेव के जीव ने और भगवान् श्री महावीर के जीव ने क्रमशः धन्ना, श्रेष्ठी के भव में[18] और नयसार के भव में[19] सर्व प्रथम सम्यक्त्व की उपलब्धि की। दान से ही शालिभद्र ने अपरिमित एवं स्वर्गीय सम्पत्ति प्राप्त की।[20]

---

१६ किं वा दच्चा ?

—सुखविपाक, अ० १

१७ देखिए सुखविपाक।

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः

शौचमिति सद्वेद्यस्य।

—तत्त्वार्थ ६।१३

१८ धणसत्थवाहघोसण, जइगमण अडवि वासठाणं च।

बहु वोलीणे वासे, चिंता घयदाणमासि तया॥

—आवश्यक नियुक्ति गा० १६८

(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० १३२

(ग) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प० १५८।१

(घ) आवश्यक-हारिभद्रीयावृत्ति प० ११८

(ङ) तदानी साधुदानेन, दानस्यास्य प्रभावतः।

लेभे मोक्षतरोर्बीजं, बोधिबीजं सुदुर्लभम्॥

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र १।१।१४२

१९ दाणऽन्नपाण अवरो अणुकम्प गुरुगह्णसम्मत्त।

—आवश्यक भाष्य, गा० २

(ख) आवश्यक निर्युक्ति गा०१४३, १४४ प० १५२

(ग) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १०।१।६ २२

२० त्रिषष्टि शलाका० १०।१०

दान श्रावक के जीवन का प्रधान गुण है ।[२१] द्वादशव्रतों में अन्तिम व्रत अतिथिसंविभाग व्रत है।[२२] पण्डित राजमल्ल जी ने उसे सबसे बड़ा व्रत कहा है ।[२३] जो संविभाग नहीं करता उसकी मुक्ति नहीं होती ।[२४] श्रावक प्रतिदिन प्रातः तीन मनोरथों का चिन्तन करता है। उनमे प्रथम मनोरथ है—जिस दिन मैं अपने परिग्रह को सुपात्र की सेवा मे त्याग कर प्रसन्नता अनुभव करूंगा, ममता के भार से मुक्त बनूंगा, वह दिन मेरे लिए कल्याणकारी होगा[२५] श्रावकों के लिए यह भी विधान है कि भोजन करने के पूर्व कुछ समय तक अतिथि की प्रतीक्षा करे। राजप्रश्नीय सूत्र में सम्राट् प्रदेशी का वर्णन है। सम्राट् प्रदेशी के जीवन की तस्वीर केशीश्रमण के उपदेश से बदल जाती है। वह नास्तिक से परम आस्तिक बनता है। श्रमणोपासक बनते ही वह अपनी राज्य श्री को चार भागों में विभक्त करता है। एक भाग से वह विराट् दानशाला खोलता है। जो भी श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु, राहगीर आदि आते हैं, उन्हें वह सहर्ष दान करता है ।[२६] इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् कुमारपाल ने भी

---

२१. (क) धर्मबिन्दु, आचार्य हरिभद्र,
(ख) धर्मरत्न प्रकरण
(ग) योगशास्त्र, हेमचन्द्र,
(घ) श्राद्धगुण विवरण

२२. अतिथिसंविभागवए
—उपासक दशांग, अ० १

२३. अतिथिसंविभागाख्यं, व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् ।
सर्वव्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥

२४. असंविभागी न हु तस्स मोक्खो । दश० अ० ६

२५. स्थानाङ्गसूत्र ३।४।२१

२६ अह णं सेयवियानगरीपामोक्खाइं, सत्त गामसहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि । एगं भागं बलवाहणस्स दलइस्सामि, एगं भागं कोट्ठागारे छुभिस्सामि, एगं भागं अन्तेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेणं महई-महालयं कूडागारं सालं करिस्सामि । तत्थणं बहूहिं पुरिसेहिं दिन्न-

आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्रवचनपीयूष का पानकर परमार्हत का विरुद पाया और असहायों के भोजन, वस्त्र के निमित्त सत्रागार की स्थापना की। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने एक मठ का भी निर्माण कराया था।[२७] जैन श्रावक भामाशाह जगडूशाह और नेमादेदराणी की दानशीलता किसी से छिपी नही है, जिन्होने राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पण कर दिया था। वे श्रमणोपासक आनन्द की तरह ही समाज के लिए मेढी स्तम्भ आधार रूप थे, आँख के समान पथ प्रदर्शक थे, और भोजन के समान आलम्बन रूप थे।[२८] यदि आपका स्वधर्मी जन आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सकटग्रस्त है, उसे समय पर खाने को नहीं मिल रहा है पहनने को कपडे नही मिल रहे हैं, रहने का झौपडी नसीब नहीं है, उस समय आप यदि उसकी दीनता पर हँसते हैं तो आप भी उसी बादशाह के खानदान के है, जो नगर को आग मे झुलसता देखकर भी वशी बजाया करता था। यदि आप उसकी स्थिति को देखकर भी उधर ध्यान नही देते हैं, तो मिट्टी के लौंद के समान हैं। यदि आप उसे केवल टुकुर टुकुर निहारते हैं तो पशु के समान है। यदि आप उसे सहायता देते है, उस गिरे हुए को ऊपर उठाते हैं तो मनुष्य हैं, श्रावक हैं। एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—जीवन का अर्थ ही दान है।[२९] प्रार्थनामन्दिर मे जाकर प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोडने के बजाय दान के लिए एक बार हाथ खोलना अधिक महत्त्वपूर्ण है।[३०] अत विचार किये बिना देते जाओ।[३१] हाथ क

महसत्त वयगुहि विउल असण४ उवक्खडावेत्ता बहूण समण माहण भिक्खु याण पथियपहियाण पडिलाभेमाण

—रायपसेणिय

२७ कुमारपाल प्रतिबोध, सोमप्रभाचार्य

२८ मेढिभूए आधारे आलवणे चक्खुभूए

उपासकदशाग अ० १

२९ Life means giving

३० One hand opened in charity is worth a hundred in Prayer,

३१ Give without a thought

शोभा दान देने से है, न कि रत्नजटित कंगन पहनने से।[32] भारतीय साहित्य मे हाथ को कमल की उपमा दी है।[33] उसे 'कर-कमल' कहते है। हाथ तभी कमल बनता है जब उसमे से दान की मन-मोहक सुगन्ध निकलती है। देना एहसान नही है, यह जीवन का ताना-बाना है। ताना बाने मे स्थित है और बाना ताने से। यदि दोनों का सहयोग नष्ट हो जायेगा तो दोनो केवल सूत रह जायेंगे।

भारतवर्ष के ऋषियो का चिन्तन कहता है कि दान दो, पर देने वाले को दीन-हीन और दरिद्र समझकर मत दो। यदि दीन-हीन और दरिद्र समझ कर दोगे तो उसमे अहंकार का विष मिल जायेगा, जो दान के ओज को नष्ट कर देगा। अतः लेने वाले को भगवान् समझ-कर दो। भक्त मन्दिर में पहुँचता है, मूर्ति के सामने मोहनभोग, और नैवेद्य चढाता है। वह भगवान् को भूखा और दीन-हीन समझकर अर्पण नही करता, किन्तु विश्वम्भर समझकर देता है। "हे प्रभो ! यह सभी तुम्हारा है और तुम्हे ही समर्पण कर रहा हूँ"[34] यह कितनी गहरी और ऊँची भावना है। अर्पण मे कितना आनन्द और उल्लास है।

पुत्र पिता को भोजन अर्पण करता है तो उसमें भी यही भावना है। भूखे है, दो-ऐसा सोचकर नही देता, किन्तु 'पितृदेवो भव' समझकर देता है। वैसे ही प्रत्येक आत्मा को परमात्मा समझकर दो, बादलो की तरह अर्पण कर दो। बादल आकाश से पानी नही लाते किन्तु भूमण्डल से ही ग्रहण करते है। बादलो के पास जो एक-एक बूँद का अस्तित्व है वह इसी भू-मण्डल का है, इसी से लिया और इसी को अर्पण कर दिया। तुम्हारी चीज तुम्हे ही समर्पित है। इस अर्पण में एहसान नही, किन्तु प्रेम है। अहकार नही, विनय है।

यदि आप भाग्यवान् है तो अपने भाग मे से भाग देना सीखिए। आपकी सम्पत्ति मे समाज का भी भाग है। यदि भाइयों के हिस्से हो

---

३२. दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।

३३. दानामृतं यस्य करारविन्दे।

३४. त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्प्यते।

रहे हो और आपको अपना भाग नहीं मिलता है, तो आप कितने बेचैन होते हैं? किन्तु समाज का भाग, जो आपके पास है, उसे देने के लिए बेचैन होते हैं या नहीं?

भारतीय संस्कृति के एक मननशील मेधावी सन्त ने कहा—'जो अर्पण करता है वह देवता है। देवै सो देवता और लेवै सो लेवता।' सूर्य निरन्तर प्रकाश देता है अतः वह देवता है। जिसमें निरन्तर अर्पण करने की शक्ति है वह देव है। मराठी भाषा में 'दान' को देव कहा है। जिसके अन्तर में देवत्व विद्यमान है वह दाता है।

प्राचीन युग में आचार्य दीक्षान्त भाषण में शिष्य से कहते थे—"वत्स! तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए जा रहे हो। तुम्हारे यहाँ कोई अतिथि आये तो श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से न देना, प्रसन्नता से देना, नम्रता से देना, पर भय से न देना, सहानुभूति और प्रेम से देना।[३५] पद्मपुराणकार ने कहा—यदि शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसे भी अर्पण करो। किसी भी वस्तु के लिए इंकार न करो।[३६] जो दिया जाता है वह मीठा होता है और जो लिया जाता है वह कड़ुवा होता है। वृक्ष अपनी इच्छा से जो फल देता है वह कितना मधुर होता? पर जो बलात् लिया जाता है उसमें मधुरता कहाँ होती है?

दान एक वशीकरण मंत्र है, जो सभी प्राणियों को मोह लेता है, पर को भी अपना बना लेता है। अतः प्रतिदिन दान दीजिए,[३७]

---

३५ श्रद्धया देयम्! अश्रद्धयाऽदेयम्! श्रिया देयम्।
ह्रिया देयम्! भियाऽदेयम्! संविदा देयम्॥
—तैत्तिरीय उपनिषद् १।११

३६ शत्रावपि गृहायाते नास्त्यदेयं तु किंचन।
—पद्मपुराण

३७ दानेन सत्वानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम्॥
—धर्मरत्न

श्रद्धा से अर्पण कीजिए ।[३८] दान से ही अमरत्व प्राप्त होता है ।[३९]

दान के विज्ञापन की आवश्यकता नहीं है। किसान खेत में जो बीज बोता है, उसे खुला नहीं रखता, मिट्टी से ढँक देता है। यदि बीज मिट्टी से ढँकता नहीं है तो उससे अंकुर नहीं उगता। वह नष्ट हो जाता है। वैसे ही दान को भी ढँकिए, उसे गुप्त रहने दीजिए, उसका विज्ञापन न कीजिये। एक विचारक ने कहा है, 'जो मानव अपने हाथ से दान देता है वह देता नहीं, पर अपने हाथ से इकट्ठा करता है।[४०] एक अन्य पाश्चात्य विचारक ने लिखा है कि-बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नहीं होती, किन्तु आवश्यकता के समय सहायता प्रदान करना ही सच्ची उदारता है।[४१] दरिद्रों को दीजिये, ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्तियों को देना तो स्वस्थ और प्रसन्न व्यक्ति को औषध प्रदान करने के समान है।[४२] गंजे व्यक्ति को जिस प्रकार कंघी देना, और अन्धे व्यक्ति को दर्पण देना निरर्थक है, वैसे ही अनावश्यक और अनुपयोगी वस्तुओं का दान भी निरर्थक है। ज्ञातृधर्म कथा का प्रसंग है कि-नागश्री ने दीर्घ तपस्वी धर्म रुचि अनगार को कडुए तुम्बे का शाक दिया[४३], और कठोपनिषद् का प्रसंग है कि वाजिश्रवा ऋषि

---

३८. दानं ददन्तु सद्धाय, सीलं रक्खन्तु सव्वदा।
भावनाभिरता होन्तु, एतं बुद्धान सासनं ।।—महात्मा बुद्ध

३९. दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। —ऋग्वेद

४०. The hand that gives gathers.

४१. Liberality does not consist in giving much, but in giving at the right moment.

४२. दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधम् ?
—हितोपदेश

४३. तएणं सा नागसिरी माहणी धम्मरुइं एज्जमाणं पासइ२ तस्स सालइयस्स""एडणट्ठयाए (निसरणिट्ठयाए) हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेइ२ जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ,२ तं सालइयं""""धम्मरुइस्स अणगारस्स पडिग्गंहंसि सव्वमेव निस्सिरइ
—ज्ञातृधर्म कथा, अध्ययन १६ वाँ

ने वृद्ध गाएँ ब्राह्मणों को समर्पित की।[४४] यह दान था, या दान का उपहास था? इसे ही 'मरी बछिया ब्राह्मन के नाम' कहते हैं।

दान सुख की कुंजी है। जैन दर्शन ने आगामाम की दृष्टि से चित्त, वित्त और पात्र की महत्ता पर प्रकाश डाला है। द्रव्य, देय और पात्र की शुद्धता से ही दान में चमक पैदा होती है।[४५] तीनों में एक की भी न्यूनता होने पर उत्कृष्ट फल की उपलब्धि नहीं हो सकती। जैन दर्शन की भांति बौद्ध दर्शन ने भी दान के तीन उपकरण माने हैं—(१) दान की इच्छा (२) दान की वस्तु, (३) और दान लेने वाला।

एक समय श्रावस्ती में कोशलराज प्रसेनजित ने महात्मा बुद्ध से कहा—भन्ते! किसे देना चाहिए? उत्तर में बुद्ध ने कहा—महाराज! जिसके मन में श्रद्धा हो।[४६] द्वितीय प्रश्न किया भंते! किसको देने से महाफल होता है? उत्तर दिया महाराज शीलवान् को दिये गये दान का महाफल होता है।[४७]

वैदिक धर्म ने भी देश, काल, और पात्र की महत्ता स्वीकार की है।[४८] जैसे मोदक के निर्माण में घी, शक्कर, और मैदे की आवश्यकता होती है वैसे ही दान के लिए भी चित्त, वित्त, और पात्र की आवश्यकता है।

---

४४ कठोपनिषद्

४५ दव्वसुद्धेण, दायगसुद्धेण, पडिग्गहसुद्धेण, तिविहेण तिकरणसुद्धेण दाणेण

—भगवती श० १५

४६ संयुक्त निकाय, 'इस्सत्थ सुत्त' ३।३।४

४७ संयुक्त निकाय, इस्सत्थ सुत्त ३।३।४

४८ देये काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः।

—गीता अ० १७ श्लो० २०

स्थानाङ्ग में भावना आदि के भेद की दृष्टि से दान के दश भेद बताये है।[४९]

(१) अनुकम्पादान—दीन, अनाथ, दरिद्र, दुःखी, रोगी, शोकग्रस्त प्राणियों पर अनुकम्पा करके देना।[५०]

(२) संग्रहदान—अभ्युदय या आपत्ति के अवसर पर सहायता हेतु देना। यह दान अपने स्वार्थ के लिए दिया जाता है, अतः वह मोक्ष का कारण नही है।[५१]

(३) भयदान—राजा, मंत्री, पुरोहित, पुलिस प्रभृति के भय से देना।[५२]

(४) कारुण्यदान—पुत्र आदि स्वजन के वियोग से व्यथित होकर उसके नाम से देना। जिससे उसका परभव सुधर जाय।[५३]

४९, दसविहे दाणे पण्णत्ते तं जहा—
अणुकंपा संगहे चेव, भये कालुणिते ति य।
लज्जाते गारवेणं च, अधम्मे पुण सत्तमे॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहीति त कतति त॥
—स्थानाङ्ग अ० १० सू० ७४५

५० कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्भवेद्दानम्॥
—स्थानाङ्ग १०।३ सू० ७४५ टीका

५१. अभ्युदये व्यसने वा, यत् किञ्चिद्दीयते सहायतार्थम्।
तत्संग्रहतोऽभिमतं, मुनिभिर्दानं न मोक्षाय॥
—स्थानाङ्ग १०।३ सू० ७४५ टीका

५२. राजारक्षपुरोहितमधुमुखमावल्लदण्डपाशिषु च।
यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं बुधैर्ज्ञेयम्।
—स्थानाङ्ग १०।३, सू० ७४५ टीका

५३, कारुण्यं शोकस्तेन पुत्रवियोगादिजनितेन तदीयस्यैव तल्पादेः स जन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य वा यद्दान तत्कारुण्यदानं, कारुण्यजन्यत्वाद् वा दानमपि कारुण्यमुक्तम् उपचारादिति॥
स्थानाङ्ग उ० ३। सू० ७४५ टी०

(५) लज्जादान—जनसमूह की बीच बैठे हुए व्यक्ति से जब कोई माँगने लगता है, उस समय देने की इच्छा न होते हुए भी लज्जा के वशीभूत होकर देना।[५४]

(६) गौरवदान—यश प्राप्ति के लिये नटों को, पहलवानों को, अपने स्नेही सम्बन्धियों को गौरवपूर्वक देना।[५५]

(७) अधर्मदान—अधर्म की पुष्टि करने के लिए, गन्दी वासनाओं से प्रेरित होकर हिंसा, असत्य, स्तेय, वेश्यागमन, आदि दुष्कृत्यों के पोषण हेतु देना।[५६]

(८) धर्मदान—जिनका जीवन त्याग और वैराग्य से परिपूर्ण हो, जिनके लिए तृण, मणि मुक्ता एक समान हो ऐसे सुपात्र को धर्मभाव से देना। यह दान कभी व्यर्थ नहीं जाता।[५७]

(९) करिष्यतिदान—भविष्य में प्रत्युपकार की दृष्टि से जो दिया जाता है। अर्थात् भविष्य में इनसे मुझे सहायता प्राप्त होगी, इस अभिप्राय से देना।[५८]

---

५४ अभ्यर्थितः परेण तु यद्दानं जनसमूहगतः ।
परचित्तरक्षणार्थं, लज्जायास्तद्भवेद्दानम् ॥
—वही १०।३, सू० ७४५ प० ४६६

५५ नटनर्तमुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धिबन्धुमित्रेभ्यः ।
यद्दीयते यशोऽर्थं, गर्वेण तु तद्भवेद्दानम् ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५। पृ० ४६६

५६ हिंसानृतचौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्यः ।
यद्दीयते हि तेषां, तज्जानीयादधर्माय ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५ पृ० ४६६

५७ समतृणमणिमुक्तेभ्यो, यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः ।
अक्षयमतुलमनन्तं, तद्दानं भवति धर्माय ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५ प० ४६६

५८ करिष्यति कञ्चनोपकारं ममायमितिबुद्ध्या ।
तद्दानं तत्करिष्यतीति दानमुच्यते ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५ टीका प०४६६

(१०) कृतदान—पूर्वकृत उपकार से उऋण होने के लिए देना।[५९]

इन दानों मे कौनसा दान हेय, ज्ञेय, और उपादेय है, यह तो पाठक स्वयं समझ सकते है। स्थानाङ्ग की तरह अंगुत्तर निकाय में भी दान के इसी प्रकार के आठ भेद बताये है।[६०]

धर्मदान मे भी देय वस्तु की दृष्टि से तीन, चार, आठ, दश, और चौदह भेद किये गए है। तत्त्वार्थ भाष्य मे स्पष्ट निर्देश है कि देय वस्तु न्यायोपार्जित और कल्पनीय होनी चाहिए। जो न्यायोपार्जित और कल्पनीय है, वही अन्नपान आदि द्रव्य देय है।[६१] अन्यत्र भाष्यकार ने यह भी लिखा है कि अन्न आदि सारजातीय और गुणो का उत्कर्ष करने वाले हों।[६२]

आचार्य अमितगति ने लिखा है कि वही देय वस्तु प्रशस्त है जिससे राग का नाश होता है, धर्म की वृद्धि होती है, संयम साधना को पोषण मिलता है, विवेक जागृत होता है, आत्मा उपशान्त होता है।[६३] वस्त्र, पात्र, और आश्रयादि भी रत्नत्रय की वृद्धि के लिए देना श्रेयस्कर है।[६४]

---

५९. शतशः कृतोपकारो, दत्तं च सहस्रशो ममानेन।
अहमपि ददामि, किंचित्प्रत्युपकाराय तद्दानम्॥
—स्थानाङ्ग १०। उ० ३, सू० ७४५

६०. अंगुत्तर निकाय ८।३१।३२

६१. न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणा........दानं।
—तत्त्वार्थ सूत्र ७।१६ भाष्य

६२. द्रव्यविशेषोऽन्नादीनामेव सारजातिगुणोत्कर्षयोगः।
—तत्त्वार्थ सूत्र ७।३४ का भाष्य

६३. अमितिगति श्रावकाचार, परिच्छेद ९।४६ से ८०

६४. वस्त्रपात्राश्रयादीनि, पराण्यपि यथोचितम्।
दातव्यानि विधानेन, रत्नत्रितयवृद्धये॥
—अमितिगतिश्रावकाचार, परिच्छेद ९

त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र[65] में धर्मरत्न प्रकरण[66] में और सर्वार्थसिद्धि में दान के तीन भेद किये हैं। ज्ञानदान, अभयदान और धर्मोपग्रहण दान।

आचार्य समन्तभद्र,[67] आचार्य पूज्यपाद,[68] आचार्य अकलंक[69] और आचार्य विद्यानन्दी[70] ने आहारदान, औषधदान, उपकरण दान और आवास दान—ये दान के चार प्रकार किये हैं।

आचार्य कार्तिकेय,[71] आचार्य जिनसेन,[72] सोमदेव,[73]

---

६५ तत्र तावद् दानधर्मस्त्रिप्रकार प्रकीर्तित ।
ज्ञानदानाऽभयदान धर्मोपग्रहदानत ॥

—त्रिषष्ठि०, आचार्य हेमचन्द्र १।१।१५३

६६ दाण च तस्य तिविह नाणयाण च अभयदाण च ।
धम्मोवग्गहदाण च, नाणदाण इम तस्य ॥

—धर्मरत्न प्रकरण, देवेन्द्रसूरि टीका गा० ५२ पत्र २२३।

त्यागो दानम् । तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदान ज्ञानदान चेति ।

—सर्वार्थ सिद्धि

६७ आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्य ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥

—समीचीनधर्मशास्त्र अध्याय ५ श्लो० ११७

६८ अतिथय संविभागोऽतिथिसंविभाग ।
स चतुर्विध भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात ॥

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।२१ की सर्वार्थ सिद्धि टीका

६९ तत्त्वार्थसूत्र, ७।२१ राजवार्तिक टीका

७० तत्त्वार्थसूत्र, ७।२१ श्लोकवार्तिक टीका

७१ भोयणदाणेण सोक्ख, ओसहदाणेण सत्थदाण च ।
जीवाण अभयदाण, सुदुल्लह सव्वदाणाण ॥

—द्वादश अनुप्रेक्षा, धर्म अनुप्रेक्षा ३६२

७२ चतुर्धाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पितम् ।

—महापुराण पर्व० २०, श्लो० १३८ पृ० ४५७

—प्र० भारतीय ज्ञानपीठ काशी

७३ अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदात् चतुर्विधम् ।

—यशस्तिलक, आश्वास ८

देवसेन,[७४] वसुनन्दि,[७५] और गुणभद्र ने[७६] आहार दान, औषध-दान, शास्त्र दान और अभयदान—यों दान के चार भेद किये हैं।

उपदेश माला,[७७] तथा दान प्रदीप[७८] मे दान के (१) वसति दान, (२) शयनदान, (३) आसनदान, (४) भक्त दान, (५) पानी दान, (६) भैषज्य दान, (७) वस्त्र दान, (८) पात्र दान ये आठ भेद किये हैं।

आवश्यक चूर्णि मे[७९] दान के (१) यथा प्रवृत्तदान (२) अन्नदान, (३) पानदान, (४) वस्त्रदान, (५) औषध दान, (६) भैपज्यदान (७) पीठ दान, (८) फलकदान (९) शय्यादान, (१०) संस्तारक दान—इस प्रकार दस भेद कहे गए हैं।

---

७४. अभयपयाणं पढमं बिदियं तह होइ सत्थदाणं च।
तइय ओसहदाणं आहारं चउत्थं च॥
—भावसंग्रह ४८९

७५. आहारोसह-सत्थाभयभेओ ज चउव्विह दाणं।
तं वुच्चइ दायव्वं, णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार २३३

७६. आहाराभयभैपज्यशास्त्रैर्देयं चतुर्विधम्।
—गुणभद्रश्रावकाचार १५३

७७. (१) वसही, (१–३) सयणासण, (४) भत्त, (५) पाण, (६) भेसज्ज, (७) वत्थ, (८) पत्ताइं।
— उपदेशमाला दो घट्टी टीका, गा० २४० प० ४२०।२

७८. दानप्रदीप सटीक पत्र ६४।२

७९. जो अहापवत्ताए अण्णपाणवत्थओसहभेसज्जपीठफलगसेज्जासंथारगादीणां संविभागो सो अहासंविभागो भवति।
—आवश्यक चूर्णि, पृ० ३०५

आवश्यक सूत्र,[८०] उपासक दशांग,[८१] सूत्रकृताङ्ग, भगवती आदि मे (१) अशन, (२) पान, (३) खादिम, (४) स्वादिम, (५) वस्त्र, (६) प्रतिग्रह, (७) कम्बल, (८) पादपोंछन (९) पीठ, (१०) फलक (११) शय्या (१२) संस्तारक (१३) औषध (१४) भैषज्य, इन चौदह देय वस्तुओं का निर्देश करके प्रकारान्तर से दान के चौदह भेद कहे गए हैं।

बौद्ध साहित्य मे भी विविध दृष्टियों से दान के भेद निरूपित किये गये है।

महात्मा बुद्ध ने (१) आमिषदान [इन्द्रियों के विषयों का दान] (२) और धर्मदान, ये दो भेद किये हैं। इन दोनों दानों मे धर्मदान मुख्य है।[८२]

फलदान की दृष्टि से दान के तीन भेद हैं (१) दृष्ट धर्म वेदनीय, (२) परिपक्व वेदनीय, (३) और अपरापर्य वेदनीय।

पात्र भेद की दृष्टि से भी दान के तीन प्रकार है—(१) पुद्गल दान, (२) संघदान, (३) और उद्देश्यदान।

दान देने वाले के तीन प्रकार हैं (१) दानदास, (२) दान सहाय, (३) और दानपति।

दायक और दानपात्र की उत्कृष्टता व निकृष्टता के कारण दान की विशुद्धता भी चार प्रकार की है—

---

८० समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकम्बलपायपुंछणेणं पाडिहारिएणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणे विहरामि।

—आवश्यक सूत्र

८१ कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थकम्बलपडिग्गहपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

—उपासकदशा—१।५८

८२ अंगुत्तर निकाय २।१३

(१) दायक द्वारा दान विशुद्धि,
(२) दान पात्र द्वारा दान विशुद्धि,
(३) दायक और दानपात्र दोनों द्वारा दान विशुद्धि,
(४) दायक और दानपात्र दोनों द्वारा दान विशुद्धि।

सिंह सेनापति के प्रश्न के उत्तर मे महात्मा बुद्ध ने कहा—दान से लोक मे चार लाभ प्राप्त होते हैं—(१) दाता लोकप्रिय होता है (२) सत्पुरुषो का संसर्ग प्राप्त होता है (३) कल्याणकारी कीर्ति प्राप्त होती है। (४) किसी भी सभा मे वह विज्ञ की तरह जा सकता है और परलोक मे स्वर्ग मे जाता है। यह अदृष्ट लाभ है।[८३]

कालदान (?) के भी चार भेद बताये हैं। (१) आगन्तुक को, (२) जाने वाले को (३) ग्लान को, (४) दुर्भिक्ष मे।[८४]

गीता मे दान के सात्विक, राजस और तामस ये तीन भेद किये है। कर्त्तव्य बुद्धि से जो दान देश, काल और पात्र का विचार करके अपना उपकार न करने वाले व्यक्ति के लिए दिया जाता है वह सात्विक दान है।[८५]

जो दान उपकार के बदले मे अथवा फल पाने की इच्छा से दिया जाता है और जिसके देने से मन में कुछ क्लेश होता है वह राजस दान है।[८६]

जो दान विना सत्कार किये, अथवा तिरस्कारपूर्वक,

---

८३. अंगुत्तर निकाय ५।३४

८४. अंगुत्तर निकाय ५।३६

८५. दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्विक विदुः॥
—भगवद्गीता १७।२०

८६. यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं, तद्दान राजस स्मृतम्॥
—भगवद्गीता अ० ११।२१

देश काल का विचार किये बिना अपात्र को दिया जाता है वह तामस दान है।[८७]

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में विविध दृष्टियों से दान के अनेक भेद प्रभेद किये गये हैं। विस्तार भय से तथा अनावश्यक होने से उन सभी का उल्लेख यहां नहीं किया जा रहा है। संक्षेप में तीनों ही परम्पराओं ने एक स्वर से अन्नदान, अभयदान और ज्ञानदान के महत्त्व को स्वीकार किया है और उनका विस्तार से निरूपण भी किया है।

अन्नदान

जैनागमों की दृष्टि से पुण्य के नौ प्रकारों में 'अन्नपुण्य' सर्व प्रथम है।[८८] इसका कारण यह है कि क्षुधा के समान कोई वेदना नहीं है।[८९] बाईस परीषहों में क्षुधा परीषह प्रथम है।[९०] श्रमणों को दिये जाने वाले दानों में भी अन्नदान सर्व प्रथम है।[९१] भोजनदान देने से तीनों ही दान दिये हुए हो जाते हैं।+

---

८७ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञात, तत्तामसमुदाहृतम्॥

—भगवद्गीता १७।२२

८८ णवविहे पुण्णे प० तं० अन्न पुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वयपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्था० ९ सू० ६७६

८९ छुहासमा नत्थि वयणा।

—गौतम कुलक

९० (क) समवायांग २२
(ख) भगवती शतक ८ उ० ८ पृ० १६१
(ग) उत्तराध्ययन अ० २
(घ) तत्त्वार्थसूत्र ९–८।१७

९१ देखिए टिप्पण नं० ६७ से ८१ तक।

\+ भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि हुंति दिण्णाणि।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३६३

संयुक्तनिकाय मे महात्मा बुद्ध ने कहा है—"एक अन्न ही है, जिसे सभी चाहते है। देवता हो या मानव, भला ऐसा कौन सा प्राणी है जिसे अन्न प्यारा न हो? जो अन्न का श्रद्धा से दान करते है, अत्यन्त प्रसन्न चित्त से, उन्हीं को वह अन्न प्राप्त होता है। इस लोक मे और परलोक मे भी।[९२]

महात्मा बुद्ध से पूछा गया-भगवन्! क्या देने वाला बल देता है? बुद्ध ने कहा—अन्न देने वाला बल देता है?[९३]

अन्यत्र भी महात्मा बुद्ध ने कहा है—'जो मनुष्य भोजन देता है वह लेने वाले को चार वस्तुएँ देता है—वर्ण, सुख, बल और आयु। उसका फल देने वाले को देवायु, दिव्यवर्ण, दिव्य सुख, और दिव्य बल[९४] के रूप मे प्राप्त होता है।

वैदिक संस्कृति के अमरगायक व्यास कहते है—"अन्न ही मनुष्यो का प्राण है, उसी से प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारा संसार अन्न के सहारे टिका है। अत. अन्नदान सब से अधिक प्रशसनीय है।[९५] जो व्यक्ति दुर्बल, विद्वान्, जीविकाहीन एवं दु.खी व्यक्ति को अन्न देकर उसकी क्षुधा मिटाता है, उसके समान संसार मे कोई नही।[९६] सब दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है, अत. धर्म की इच्छा रखने वाले मनुष्य को सरल भाव से अन्न का दान करना चाहिए।[९७]

---

९२ संयुक्त-निकाय प्रथम भाग, अन्न सुत्त १।५।३

९३. संयुक्त निकाय प्रथम भाग, किं ददं सुत्त १।५।२

९४. अंगुत्तर निकाय ४।५८

९५. प्राणाह्यन्नं मनुष्याणा, तस्माज्जन्तुश्च जायते।
अन्ने प्रतिष्ठितो लोकस्तस्मादन्नं प्रशस्यते॥
—महाभारत, अनुशासन, अ० ११२ श्लो० ११

९६. कृशाय कृतविद्याय, वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात् क्षुधा यस्तु, न तेन पुरुषः समः॥
—महाभारत अनुशासन पर्व, अ० ५९ श्लो० ११

९७. सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम्।
पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता॥
—महाभारत अनुशासन पर्व, अ० ११२ श्लो० ११०

अभयदान

किसी मरते हुए प्राणी को बचाना, संकट में पड़े हुए का उद्धार करना, उसे निर्भय बनाना अभयदान है।+ भगवान् श्री महावीर ने कहा—दानों में श्रेष्ठ अभयदान है।[९८] पद्मपुराणकार ने तो कहा है कि अभयदान से बढ़कर अन्य दान नहीं है।[९९] जो विद्वान् सब जीवों को अभयदान करता है वह इस संसार में निःसंदेह प्राणदाता माना जाता है।[१००] अभयदान पाकर प्राणी को जो सुख होता है वह अपूर्व है।

वर्तमान युग में मानव भय से काँप रहा है। विज्ञान के प्रखर-प्रकाश में भी संसार पथ भ्रष्ट हो रहा है। समर देवता की भयानक जीभ विश्व को निगलने के लिए लपलपा रही है। तीन अरब कण्ठों की आर्त-वाणी है—'मानवता संकटापन्न है, शान्ति की मासूम बुलबुलें छटपटा रही हैं। अतः ऐसे माई के लाल की आवश्यकता है, जो मानवों को भय से मुक्त कर अभय प्रदान करे।

\+ जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरणभयभीरुजीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिहामणी सव्वदाणाणं।

—वसुनंदि श्रावकाचार २३८

(ख) भवत्यभयदानं तु, जीवानां वधवर्जनम्।
मनो-वाक्कायैः करण-कारणानुमतैरपि॥

—त्रिषष्टि० १।१।१५७

(ग) वधस्य वर्जनं तत्त्वभयदानं तदुच्यते।

—त्रिषष्टि० १।१।१६६

९८ दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।

—सूत्रकृतांग अ० ६ गा० २३

९९ अभयं सर्वभूतानां, नास्ति दानमतः परम्।

—पद्मपुराण

१०० सर्वभूतेषु यो विद्वान्, ददात्यभयदक्षिणाम्।
दाता भवति लोके स, प्राणानां नात्र संशयः॥

—महाभारत अनु० अ० ११५ श्लो० १८

ज्ञानदान :

ज्ञान के अभाव मे मानव अन्धा है। अंधे को नेत्र मिलने पर जितनी प्रसन्नता होती है, उससे भी अधिक अज्ञानी को ज्ञान प्राप्त होने पर होती है। ज्ञानदान से ही प्राणी हिताहित तथा तत्त्व अतत्त्व को जानता है और व्रत को ग्रहण करता है।[१०१] पहले ज्ञान है, फिर दया है।[१०२] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो ही पुरुषार्थ ज्ञान के द्वारा सिद्ध होते हैं। अत. ज्ञानदान देने वाला इन चारों को पाने का अधिकारी होता है।[१०३] जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण तथा घृत जैसे पदार्थो के दान से ज्ञान का दान कही अधिक उत्कृष्ट है।[१०४]

दान धर्म का शिलान्यास है। इस शिलान्यास पर ही धर्म का सुहावना सौध निर्मित हो सकता है। एडीसन के शब्दों मे दान ही धर्म का पूर्णत्व और उसका आभूषण है।[१०५] विक्टर ह्यूगो ने कहा है, ज्यों ही पर्स (बटुआ) रिक्त होता है, हृदय समृद्ध होता है।[१०६] दान असंख्य पापो का छादन करने वाला है,[१०७] अत. इस सनातन नियम को स्मरण रखो कि यदि तुम प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित करना सीखो।[१०८] दान 'प्रिजर्व' नही किन्तु 'ग्रो' है। मौसम पर

---

१०१. ज्ञानदानेन जानाति, जन्तु. स्वस्य हिताहितम्।
वेत्ति जीवादितत्त्वानि, विरतिं च समश्नुते ॥
—त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र १।१।१५५

१०२. पढमं नाणं तओ दया।
—दशवैकालिक, अ० ४

१०३. आचार्य अमितगति,

१०४. सर्वेषामेव दानानां, ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिपाम् ॥
—मनुस्मृति ४।१३३

१०५. ज्ञानगगा।

१०६. अमरवाणी।

१०७. पीटर महान्।

१०८. सुभाषचन्द्र बोस।

कोल्ड स्टोरेज मे ग्राम आदि रख दिये जाते हैं और मौसम बीत जाने पर निकाल लिये जाते है। इस प्रकार रक्षित कर रखना 'प्रिजर्व' है। किन्तु ग्राम का बीज बोते हैं, उसमे अकुर फूटते हैं, टहनिया आती है, फूल खिलते है फल लगते हैं, यह सब सवर्धन 'ग्रो' है। तात्पर्य यह है कि दान वृद्धि का कारण है।

हिरात का शेख अब्दुला अन्सार अपने शिष्यो से कहता था— शिष्यो! आकाश मे उडना कोई चमत्कार नहीं हैं, क्योकि गन्दी से गदी मक्खियाँ भी आकाश मे उड सकती है। पुल या नाव के बिना भी नदियो को पार कर जाना काई चमत्कार नहीं है, क्योकि एक साधारण कुत्ता भी ऐसा कर सकता है। किन्तु दुखी हृदयो को सहायता देना, दान देना एक ऐसा चमत्कार है, जिसे पवित्रात्मा ही किया करते हैं। जो जीवन मे धर्म की आराधना व साधना करना चाहते हैं, उन्हे सर्व प्रथम दान वृत्ति अपनाना चाहिए।

❀

ग्यारह | महावीर के सिद्धान्त

श्रमण भगवान् श्री महावीर युगप्रवर्तक क्रान्तिकारी और सूक्ष्म द्रष्टा महापुरुष थे। जिस युग मे वे जन्मे थे उस युग मे मानव अविद्या और रूढियो की जंजीरो से जकडा हुआ था। भीषण अत्याचार पनप रहे थे। मानवता का कोई सम्मान नही था। जातिवाद को खुलकर प्रश्रय प्राप्त था। धर्म के नाम पर हजारों मूक प्राणियो की ही नही, अपितु मानवो की भी बलि दी जाती थी। उनके करुण क्रन्दन से भी धर्मध्वजियों के हृदय द्रवित नही होते थे। अन्धपरम्परा के निविडतम अन्धकार से लोगों की आंख खोलने की शक्ति एकदम क्षीण हो चुकी थी। वे बिलकुल असहाय और विवश थे।

उस विकट-वेला मे दीर्घ तपस्वी और साधना के कपोपल पर कसे हुए महावीर एक नूतन सन्देश लेकर आये। उन्होने भूले-भटके जीवनराहियों को प्रशस्त पथ का प्रदर्शन करते हुए अकारत्रयी-अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की दिव्य देशना दी। प्रस्तुत अकारत्रयी मे महावीर की समग्र वाणी का सार है, शेष जो कुछ भी है—इसी का विस्तार है।

अहिंसा :

भगवान् ने कहा—हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, मृत्यु है, नरक है।[1] एतदर्थ ही वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पड़े है,[2] तुम भी

१. एस खलु गन्थे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।
—आचारांग १।३।२३

२. पणया वीरा महावीहिं।
—आचारांग श्रु० १, अ० १ उ० ३

चलो। प्राण, भूत, जीव सत्त्व की हिंसा न करो, उन पर शासन मत करो, उनको पीडित मत करो, उन पर प्रहार मत करो।[3] ज्ञानियों के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।[4]

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, अत निर्ग्रन्थ प्राणिवध का वर्जन करते हैं।[5] सभी प्राणियों को अपने प्राण प्रिय है, सुख अनुकूल है और दुख प्रतिकूल है।[6] जैसे मुझे दुख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवो को भी दुख प्रिय नही है। यह समझकर जो न स्वय हिंसा करता है और न दूसरो से हिंसा करवाता है वही श्रमण है।[7]

इस प्रकार हिंसा का निषेध कर उसे नरक ले जाने का प्रमुख कारण बताकर[8] भगवान् ने मानव को अहिंसा के राजमार्ग पर बढने की प्रेरणा दी। उन्होंने स्पष्ट शब्दो म कहा—मनसा, वाचा, कर्मणा जो स्वय जीवो की हिंसा करता है, दूसरो से करवाता है, या जो जीव

---

३ सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हतव्वा।
न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावयव्वा, न उद्दवेयव्वा ॥
—आचारांग १।४।१

४ एव खु नाणिणो सार ज न हिंसई किंचण।
—सूत्रकृतांग श्रु० १, अ० ११ गा० १०

५ सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ,
तम्हा पाणिवह घोर, निग्गंथा वज्जयति ण।
—दशवैकालिक, ६।१०

६ सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुहपडिकूला अप्पियवहा
पिय जीविणो जीविउकामा। सव्वसि जीविय पिय।
—आचाराग १।२।३

७ जह मम न पिय दुक्ख जाणिय एमेव सव्व जीवाण
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो।
—अनुयोग द्वार

८ महारम्भयाए महापरिग्गहियाए, पचिन्दिय वहेणं, कुणिमाहारेण।
—भगवती शतक ८।३।९

हिंसा का अनुमोदन करता है वह वैर की वृद्धि करता है।[९] अत: प्राणीमात्र को आत्मतुल्य समझो।[१०] उन्होंने हिंसात्मक यज्ञों के स्थान पर अहिंसात्मक आत्म-यज्ञ का निरूपण किया।[११]

अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भगवान् ने स्पष्ट शब्दों मे कहा—इस विराट् विश्व मे अहिंसा ही भगवती है।[१२] वह भय-भीतों के लिए शरण है, पक्षियों के लिए पांख है, पिपासुओं के लिए पानी है, भूखों के लिए अन्न है, समुद्र यात्रियों के लिए पोत है, चतुष्पदों के लिए आश्रम-स्थल है, रोगियों के लिए औषध है, वन यात्रियों के लिए साथ (काफिला) है, अहिंसा सभी के लिए कल्याणकारी है।[१३] अहिंसा उत्कृष्ट मंगल है।[१४] श्रमणधर्म और श्रावकधर्म की

---

९. सयंऽतिवायए पाणे, अदुवन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

—सूत्रकृतांग १।१।१–३

१०. अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाये।

—दशवैकालिक १०–५

(ख) आयतुले पयासु।

—सूत्रकृतांग १।१०।३

११. तवो जोई, जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं,
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं।

—उत्तराध्ययन सूत्र १२।४४

१२. एसा सा भगवती अहिंसा।

—प्रश्न व्याकरण

१३. जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं पिव गमणं, तिसियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं, समुद्दमज्झे व पोतवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्ठियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे विसत्थगमणं ....तसथावरसव्वभूयखेमकरी एसा भगवती अहिंसा।

—प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार

१४. दशवैकालिक १।१

साधना अहिंसा के बिना सभव नही है। अत महावीर ने महाव्रत[15] और अणु-व्रत[16] मे अहिंसा को प्रथम स्थान दिया।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रमण भगवान् श्री महावीर का अहिंसा सिद्धात केवल निषेधात्मक ही नही, अपितु विधेयात्मक भी है। प्रश्नव्याकरण मे अहिंसा के जो साठ पर्यायवाची नाम बताये हैं, वे अहिंसा के विराट् स्वरूप व या उसके विविध रूपो के निर्देशक हैं। उनमे ग्यारहवाँ नाम दया है।[17] आचार्य श्री मलयगिरि ने उसका अर्थ 'देह धारी जीवो की रक्षा करना' किया है।[18] अहिंसा के जहाँ अनेक नाम निषेधात्मक हैं वहाँ अनेक नाम विधेयात्मक भी है, जैसे रक्षा, दया, अभय आदि।[19] निष्कर्ष यह है कि भगवान् महावीर के विराट् अहिंसातत्त्व को समझने के लिए अहिंसा के दोनों पहलुओं को समझना आवश्यक है। गान्धी जी ने भी कहा है—जहाँ दया नही, वहाँ अहिंसा नही"[20] अस्तु।

अपरिग्रह

भगवान् श्री महावीर ने अपरिग्रह का सन्देश देते हुए कहा—"वस्तु अपने आप मे परिग्रह नहीं है, किन्तु वस्तु के प्रति मूर्च्छा भाव ही वस्तुत परिग्रह है।[21] परिग्रह एक प्रकार का बधन है। ससार के

---

१५ अहिंसच्च च अतेणग च, तत्तो य बभ च अपरिग्गह च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइ, चरिज्ज धम्म जिणदसिय विऊ॥
—उत्तराध्ययन, २१।२२

१६ उपासक दशाग अ० १

१७ प्रश्नव्याकरण सवरद्वार

१८ दया-देहिरक्षा।

१९ प्रश्न व्याकरण सवरद्वार।

२० गाधीवाणी पृ० १७

२१ मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा।
—दशवैकालिक अ० ६। गा० २०

सभी प्राणियों को परिग्रह ने जकड़ रक्खा है। इससे बढ़कर अन्य कोई भी बंधन नही है।[२२]

जो ममत्वबुद्धि का त्याग करता है, वही व्यक्ति ममत्व का भी त्याग करता है, वही सच्चा और अच्छा साधक है। जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व नही है।[२३] सच्चा साधक अपने तन पर भी ममत्व नही रखता।[२४]

जो व्यक्ति अर्थ को अनर्थ का कारण न मानकर उसे अमृत मानता है और उसे प्राप्त करने के लिए पापकृत्य करता है, वह कर्मो के दृढ पाश में बन्ध जाता है, अनेक जीवो के साथ वैरानुबन्ध कर अन्त मे विराट् वैभव को यही छोड़कर एकाकी नरक में जाता है।[२५]

पदार्थ ससीम है और तृष्णा असीम है, आकाश के समान अनन्त है। सुवर्ण, रजत के असख्य पर्वत भी लोभी मानव के दिल में परितृप्ति उत्पन्न नही कर सकते। विराट् वैभव भी उसके मन को प्रमुदित नही कर सकता, वह समझता है—यह बहुत ही कम है।[२६]

---

२२. नत्थि एरिसो पासो,
पडिबन्धो अत्थि सव्व-जीवाणं। —प्रश्नव्याकरण

२३. जे ममाइअ मइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं।
सेहु दिट्ठभएमुणी जस्स नत्थि ममाइअं॥ —आचारांग

२४. अवि अप्पणो वि देहम्मि
नाऽऽयरंति ममाइयं। —दशवैकालिक

२५. जे पावकम्मेहि धणं मणूसा,
समाययन्ती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा णरयं उवेंति।
—उत्तराध्ययन, अ० ४ गा० २

२६. सुवण्णरूवस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥
—उत्तराध्ययन अ० ९। गा० ४८

आग में कितना ही ईंधन डाला जाय वह कभी तुष्ट नहीं होती, सागर में चाहे कितनी ही सरिताएँ गिरें उसे तृप्ति नहीं होती।' यही अवस्था मानवमन की है। एतदर्थ महावीर ने इच्छाओं के नियन्त्रण पर बल दिया।

धन को ही जीवन का ध्येय समझने वालों को महावीर ने कहा—धन इस लोक और परलोक में तुम्हारी कहीं भी रक्षा नहीं कर सकता,[२७] अतः धन को नहीं, धर्म को महत्त्व दो। धर्म ही सच्चा रक्षक और सही शरण है।[२८]

अनेकान्त

श्रमण भगवान् श्री महावीर ने अनेकान्त का सन्देश देते हुए कहा—तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।[२९] सत्य का परिज्ञान करने के लिए अपेक्षित है कि वस्तु का सभी दृष्टियों से चिन्तन किया जाय। जो वस्तु नित्य प्रतीत होती है, वह अनित्य भी है। जो वस्तु क्षणिक है वह नित्य भी है। जहाँ नित्यता है वहाँ अनित्यता भी है। अनित्यता के अभाव में नित्यता की प्रतीति नहीं हो सकती, और नित्यता के अभाव में अनित्यता की पहचान नहीं हो सकती है। एक की प्रतीति द्वितीय की प्रतीति से ही संभव है। अनेकानेक अनित्य प्रतीतियों के मध्य जहाँ एक स्थिर प्रतीति होती है, वह ध्रौव्य है।

सब ज्ञानों की विषयभूत वस्तु अनेकान्तात्मक होती है।[३०] अतः

---

२७ वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
—उत्तराध्ययन अ० ४। गा० ५

२८ एको हु धम्मो नरदेव! ताणं
न विज्जए अन्नमिहेह किंचि।
—उत्तरा० अ० १४।४०

२९ उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।
—स्थानाङ्ग सूत्र, ठा० १०

३० अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
—न्यायावतार, सिद्धसेन

वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा है। जिसमे अनेक अर्थ, भाव, सामान्य विशेष. गुणपर्याय रूप से पाये जायें वह अनेकान्त है।[31] और अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व को भाषा के द्वारा कथन करना स्याद्वाद है।[32] भगवान् ने अनेकान्त की दृष्टि से देखा और स्याद्वाद की भाषा में उसका प्रतिपादन किया। भगवद्वाणी सदा स्याद्वादमयी होती है।[33] 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है। अतः स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहते हैं।[34]

सत्य का समुद्घाटन करने के लिए भगवान् ने प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अपेक्षा दृष्टि से दिया। यथा—

जयन्ती—भगवन्! सोना अच्छा है या जागना!

महावीर—कितनेक जीवों का सोना अच्छा है और कितनेक जीवों का जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन्! यह कैसे?

महावीर— जो जीव अधर्मी है, अधर्मानुग हैं, अधर्मनिष्ठ हैं, अधर्मा-ख्यायी है, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन है, अधर्मसमाचार है, अधार्मिक-वृत्तियुक्त है, वे सोते रहे, यही अच्छा है। क्योंकि वे सोते रहेगे तो अनेक जीवों को पीड़ा नही देंगे। और इस प्रकार स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया मे सलग्न नहीं करेंगे, अतः उनका सोना श्रेष्ठ है। किन्तु जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग है यावत् धार्मिक वृत्ति वाले है उनका तो जागना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि वे अनेक जीवों

---

३१. अथोऽनेकान्त.। अनेके अन्ता भावा अर्था. सामान्यविशेपगुणपर्यायाः यस्य सोऽनेकान्तः।

३२. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।

—लघीयस्त्रय टीका ६२ अकलंक

३३. स्याद्वादः भगवत्प्रवचनम्।

—न्यायविनिश्चय विवरण पृ० ३६४

३४. स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं, तत. स्याद्वादोऽनेकान्तवादः।

—स्याद्वाद मंजरी का० ५

को सुख देते हैं, स्व, पर और उभय को धार्मिक अनुष्ठान में संलग्न करते हैं, अतएव उनका जागना ही श्रेष्ठ है।

जयन्ती—भगवन् ! बलवान् होना श्रेष्ठ है या दुर्बल होना ?

महावीर—कुछ जीवों का बलवान् होना श्रेष्ठ है और कुछ का दुर्बल होना।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर—जो जीव अधार्मिक हैं, यावत् अधार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका दुर्बल होना श्रेष्ठ है। वे बलवान् होंगे तो अनेक जीवों को कष्ट देंगे। जो जीव धार्मिक हैं यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका बलवान् होना श्रेष्ठ है क्योंकि वे बलवान् होने से अधिक जीवों को सुख पहुँचायेंगे[३५]

इस प्रकार अलसत्व और दक्षत्व के प्रश्न का उत्तर भी विभाग करके दिया।

गौतम—भगवन् ! आर्द्र गुड में कितने वर्ण हैं कितने गंध हैं कितने रस हैं और कितने स्पर्श हैं ?

भगवान्—गौतम ! दो नय हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। व्यवहार नय से आर्द्र गुड में मधुरता है, और निश्चय नय से पाँच वर्ण हैं, दो गंध हैं, पाँच रस हैं और आठ स्पर्श हैं।[३६]

गौतम—भगवन् ! भ्रमर में कितने वर्ण हैं ?

भगवान्—गौतम ! व्यवहार नय की दृष्टि से भ्रमर काला है, एक

---

३५ भगवती १२।२।४४३

३६ फाणियगुले णं भंते ! कइवन्ने कइगंधे कइरसे कइफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! एत्थणं दो नया भवंति, तं जहा निच्छइयनए य वावहारियनए य, वावहारियनयस्स गोड्डे फाणियगुल, नेच्छइयनयस्स पंचवन्ने दुगंधे पंचरसे अट्ठफासे।

—भगवती शतक १८।६

वर्ण वाला है किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से उसमें श्वेत, कृष्ण, नील आदि पाँचो वर्ण हैं।[३७]

इसी प्रकार राख[३८] और शुक-पिच्छ[३९] के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त करने पर भगवान् ने व्यवहार और निश्चयनय की दृष्टि से उत्तर प्रदान किये।

महात्मा बुद्ध ने लोक, जीव आदि की नित्यता, अनित्यता, सान्तता और अनन्तता के प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया।[४०] किन्तु भगवान् श्री महावीर ने उन प्रश्नों के उत्तर विविध रूप से प्रदान किये। महात्मा बुद्ध ने आत्मा आदि के सम्बन्ध मे चिन्तन करना साधक के लिए अनुचित माना है। उसे—"अयोनिसोमनसिकार—विचार का अयोग्य ढंग कहा है। "अयोनिसोमनसिकार" से आश्रव उत्पन्न होते है और उत्पन्न आश्रव वृद्धिगत होते हैं।[४१] परन्तु भगवान् श्री महावीर ने साधना की दृष्टि से जीव, लोक आदि का ज्ञान आवश्यक माना है।[४२] जब तक इन बातों का ज्ञान नहीं होता, तब तक कोई

---

३७. भमरे ण भन्ते ! कइवण्णे पुच्छा ? गोयमा ! एत्थणं दो नया भवन्ति तं जहा णिच्छइयणए य, वावहारियणए य। वावहारियणयस्स कालए भमरे, णिच्छइयणयस्स पंचवण्णे जाव अट्ठ फासे।

—भगवती शतक १८।६

३८. छारियाणं भन्ते ! पुच्छा ? गोयमा ! एत्थणं दो नया भवन्ति तं जहा—णिच्छइयणए य, वावहारियणएय। वावहारियणयस्स लुक्खा छारिया, णेच्छइयस्स पंच वण्णे जाव अट्ठफासे पण्णत्ते।

—भगवती शतक १८।६

३९. सुयपिच्छेणं भन्ते ! कइवण्णे पण्णत्ते ! एव चेव णवरं वावहारियणयस्स णीलए सुअपिच्छे, णेच्छइयस्स णयस्स सेसन्तं चेव।

—भगवती १८।६

४०. मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्यसुत्त ६३।

४१. मज्झिमनिकाय—सव्वासवसुत्त २

४२. इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, दाहिणाओ वा....अन्नयरीयाओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ

भी जीव आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी नही हो सकता। अत आत्मा आदि के विषय मे चिन्तन करना सवर और मोक्ष लाभ का कारण माना है।[४३]

लोक शाश्वत है या अशाश्वत है ? इस प्रश्न के उत्तर मे महावीर ने कहा—

जमालि ! लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। त्रिकाल मे एक भी ऐसा समय नही मिल सकता जब लोक न हो, अतएव लोक शाश्वत है। वह अशाश्वत भी है, क्योकि लोक हमेशा एकरूप नही रहता। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे अवनति और उन्नति होती रहती है। कालक्रम मे लोक मे विविधरूपता आती रहती है, अत लोक अनित्य है, अशाश्वत है।[४४]

लोक सान्त है या अनन्त है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा— स्कन्दक ! लोक को चार प्रकार से जाना

वा आगओ अहमसि। एवमगेसि नो नाय भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि म आया उववाइए, के अह आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

"स ज पुण जाणेज्जा सहसम्मइयाए, परवागरणेण अन्नेसि वा अन्तिए सोच्चा। त जहा—पुरत्थिमाओ एवमेगेसि नाय भवइ—अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोह—स आयावाई, लोगावाई कम्मावाई किरियावाई।

—आचाराग १ १।१ २-३

४३ इह आगइ गइ परिन्नाय अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग विक्खायरए।

—आचाराग १।५।६

४४ सासए लोए जमाली, जन्न कयावि णासी ण कयावि ण भवति ण कयावि ण भविस्सइ, भुवि च भवइ य, भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए लोए जमाली ! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उसप्पिणी भवइ।

—भगवती सूत्र ६।३ ३।३८७

जाता है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, और भाव से। द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असंख्यात योजन कोटाकोटि विस्तार और असंख्यात योजन कोटाकोटि परिक्षेप प्रमाण वाला है, अतः क्षेत्र की अपेक्षा से लोक सान्त है। काल की अपेक्षा से कोई काल ऐसा नहीं जब लोक न हो, अतः लोक ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य है। उसका कभी अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा से लोक के अनन्त वर्ण-पर्याय, गंधपर्याय, रसपर्याय और स्पर्शपर्याय है। अनन्त संस्थान-पर्याय है, अनन्त गुरुलघुपर्याय है, अनन्त अगुरुलघुपर्याय हैं। उसका कोई अन्त नहीं। अतः लोक द्रव्य दृष्टि से सान्त है, क्षेत्र दृष्टि से सान्त है, काल दृष्टि से अनन्त है, भावदृष्टि से अनन्त है।[४५]

जीव शाश्वत है या अशाश्वत है, प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—गौतम ! जीव किसी दृष्टि से शाश्वत है, किसी दृष्टि से

---

४५ एवं खलु मए खन्दया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, त जहा दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोड़ीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयण कोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पन्नत्ते, अत्थि-पुण सअंते।

कालओ णं लोए ण कयावि न आसि, न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति। भविसु य भवति य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासते, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे, णत्थि पुण से अंते।

भावओ ण लोए अणंता वण्णपज्जवा गंधपज्जवा रसपज्जवा फासपज्जवा अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अन्ते।

से त्तं खन्दगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअन्ते, कालतो लोए अणन्ते, भावतो लोए अणन्ते।

—भगवती २।१।९०

अशाश्वत हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत हैं और भावार्थिक पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत हैं।[४६]

द्रव्य दृष्टि का अर्थ है अभेदवादी दृष्टि और पर्यायदृष्टि का अर्थ है भेदवादी दृष्टि। द्रव्यदृष्टि से जीव में जीवत्वसामान्य का कभी अभाव नहीं होता, वह किसी भी अवस्था में हो, जीव ही रहता है, अजीव नहीं होता। अत वह नित्य है। पर्याय दृष्टि से जीव किसी न किसी पर्याय म रहता है। एक पर्याय का परित्याग कर अन्य पर्याय को ग्रहण करता रहता है, अत अनित्य है।

जीव सान्त है या अनन्त है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् न कहा—

जीव सान्त भी है और अन त भी है। द्रव्य की दृष्टि से एक जीव सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से भी जीव असख्यातप्रदेशयुक्त होने से सान्त है। काल की दृष्टि से जीव भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्यत् काल में रहेगा, अत अनन्त है। भाव की अपेक्षा से जीव के अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त चारित्र पर्याय और अनन्त अगुरुलघु पर्याय हैं, अत अनन्त है।[४७] तात्पर्य यह है कि द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से जीव सान्त है और काल तथा भाव की दृष्टि से अनन्त है।

---

४६ जीवा ण भ ते ! किं सासया असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया।
गोयमा दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया ॥

—भगवती ७।२।२७३

४७ जे वि य ख दया ! जाव सअ ते जीवे, तस्स वि य ण एयमट्ठे एव खलु जाव दव्वओ ण एग जीवे सअ त, खेत्तओ ण जीवे असखेज्ज पएगिए असखेज्जपएसोगाढे, अत्थि पुण से अ ते, कालओ ण जीवे न कयावि न आसि जाव निच्चे, नत्थि पुण से अन्ते, भावओ ण जीवे अणन्ता णाणपज्जवा, अण ता दसणपज्जवा, अण ताचरित्तपज्जवा, अणन्ता अगुरुलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अ ते।

—भगवती० २। १।९०

भगवान् महावीर ने द्रव्य में एकता और अनेकता दोनो धर्म मान्य किये है। भगवान् ने कहा—सोमिल! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूं। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से मैं दो हूँ। न परिवर्तन होने वाले प्रदेशो की दृष्टि मे मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। परिवर्तित होने वाले उपयोग की दृष्टि से मैं अनेक हूँ।[४८]

इस प्रकार भगवान् श्री महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से प्रत्येक प्रश्न का समाधान किया। विरोधी प्रतीत होने वाले एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, मान्तत्व और अनन्तत्व, सत्त्व और असत्त्व धर्मो का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय किया।

यहाँ पर यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि दो एकान्तों को मिलाने वाली मिश्रदृष्टि नहीं है। किन्तु यह एक स्वतन्त्र और विलक्षण दृष्टि है, जिसमें वस्तु का पूर्ण रूप परिज्ञात होना है और वस्तु के सभी धर्म निर्विरोध रूप से प्रतिभासित होते है।

भगवान् ने अपने श्रमणो को भी यह आदेश दिया कि भिक्षुओ! तुम स्याद्वाद भाषा का ही प्रयोग करो।[४९]

भगवान् श्री महावीर की वाणी में एक शाश्वत सत्य था, जो जन-मन को छू गया था। हिंसा, शोषण और दुराग्रह के स्थान पर अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की अमल-धवल धारा जन-मन मे प्रवाहित होने लगी। भगवान् के पावन प्रवचनों से पशु और मानवो की बलि बन्द हुई, अहिंसक यज्ञ प्रारम्भ हुए। गुलाम प्रथा का अन्त हुआ, नारी और शूद्रों को धर्माधिकार प्राप्त हुए। अपरिग्रह और अनेकान्त की प्राणप्रतिष्ठा हुई।

---

४८. सोमिला! दव्वट्ठयाए एगे अहं, णाणदसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं।

—भगवती १।८।१०

४९. भिक्खु विभज्जवाय च वियागरेज्जा।

—सूत्रकृताङ्ग १।१४।२२

आज विज्ञान और विनाश की इस कसमसाती वेला में भगवान् महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त दृष्टि के प्रचार की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी उस युग में थी। यह देशनात्रयी मानवसमाज के लिए एक अनुपम औषधि है, जिसके सेवन से मानव समाज पूर्ण स्वस्थ, मस्त और प्रसन्न हो सकता है। जब विचार में अनेकान्त, व्यवहार में अहिंसा और समाज में अपरिग्रह की उदात्त भावना अठखेलियाँ करने लगेगी तब जन जन के जीवन में आनन्द की ऊर्मियाँ तरंगित होगी।

अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त ही भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त हैं इनमें भारतीय संस्कृति का सार संगृहीत है। समाज, राष्ट्र और जीवन में सर्वत्र सुख और सन्तोष का संचार करना ही इसका मूल ध्येय है, जो पुरातन होने पर भी अभिनव है। चिरन्तन होने पर भी चिरनवीन है।



परिशिष्ट

'धर्म और दर्शन' में प्रयुक्त ग्रन्थ

(१) आचाराग
(२) चपटपजरिका
(३) महाभारत
(४) दशवैकालिक
(५) दशवैकालिक—जिनदास चूर्णि
(६) दशवैकालिक—हारिभद्रीयावृत्ति
(७) दशवैकालिक—अगस्त्यसिंह चूर्णि
(८) वैशेषिक दर्शन
(९) सर्वदर्शन सग्रह टीका—माधवाचार्य
(१०) बृहदारण्योपनिषद्
(११) उत्तराध्ययन
(१२) गीता
(१३) बौद्ध दर्शन
(१४) अगुत्तर निकाय
(१५) सूत्रकृताङ्ग
(१६) स्थानाङ्ग
(१७) आवश्यक नियुक्ति—आचार्य भद्रबाहु
(१८) विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र
(१९) सूत्रकृताङ्ग—शीलाङ्क टीका
(२०) भगवती
(२१) योगदर्शन
(२२) तैत्तिरीय उपनिषद्
(२३) मनुस्मृति
(२४) समवायाङ्ग
(२५) कल्पसूत्र—भद्रबाहु

(२६) कल्पसूत्र—पुण्यविजय जी
(२७) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका
(२८) कल्पसूत्र—कल्पद्रुम कलिका
(२९) कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी—राजेन्द्रसूरि
(३०) कल्पसूत्र कल्पलता
(३१) कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी
(३२) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(३३) मज्झिम निकाय
(३४) अनुत्तरोपपातिक
(३५) अन्तकृद्दशा
(३६) आवश्यक चूर्णि—जिनदासगणी महत्तर
(३७) आवश्यक सूत्र—मलयगिरिवृत्ति
(३८) आवश्यक सूत्र—हारिभद्रीया वृत्ति
(३९) समवायाङ्ग—अभयदेव वृत्ति
(४०) त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र
(४१) उत्तराध्ययन—नेमिचन्द्रीय वृत्ति
(४२) तत्वार्थ सूत्र—उमास्वाति
(४३) तत्वार्थ सूत्र—राजवार्तिक
(४४) मूलाचार—वट्टकेर
(४५) मोक्षपाहुड—आचार्य कुन्दकुन्द
(४६) संथार पइन्ना
(४७) ज्ञानसार तपाष्टक—उपाध्याय यशोविजय
(४८) दर्शन और चिन्तन—प० सुखलाल जी
(४९) उत्तर पुराण—गुणचन्द्राचार्य
(५०) महापुराण—जिनसेनाचार्य
(५१) गाँधीजी की सूक्तियाँ
(५२) ज्ञाता सूत्र
(५३) आर० विलियम्स, जैन योग
(५४) वसुनन्दी श्रावकाचार
(५५) पंचाचार वृत्ति
(५६) कर्मग्रंथ टीका

(५७) छहढाला—पं० दौलतराम जी
(५८) रत्नकरण्ड श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र
(५९) निशीथ चूर्णि—जिनदास गणी महत्तर
(६०) व्यवहार भाष्य
(६१) बृहत्कल्प
(६२) निशीथ सूत्र
(६३) पन्नवणा सूत्र
(६४) ओघनिर्युक्ति
(६५) ज्ञानार्णव—शुभचन्द्र
(६६) पंचतन्त्र—विष्णु शर्मा
(६७) धम्मपद
(६८) बृहत्कल्प लघुभाष्य
(६९) विनयपिटक
(७०) दशाश्रुतस्कन्ध
(७१) ऋषभदेव : एक परिशीलन—देवेन्द्र मुनि
(७२) बृहत्कल्प निर्युक्ति
(७३) राजेन्द्र कोष
(७४) कौटलीय अर्थशास्त्र
(७५) महानिशीथ
(७६) दर्शन पाहुड
(७७) मनुसंहिता
(७८) षट् प्राभृत
(७९) प्रश्न व्याकरण
(८०) नन्दी सूत्र
(८१) योगसूत्र—पतञ्जलि
(८२) बौद्ध दर्शन
(८३) समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द
(८४) द्रव्य संग्रह—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
(८५) परमात्मप्रकाश
(८६) ज्ञान गङ्गा
(८७) अमर वाणी

(८८) अनुयोग द्वार
(८९) उपाकसक दशांग
(९०) गांधी-वाणी
(९१) न्यायावतार—सिद्धसेन
(९२) लघीयस्त्रय टीका—अकलंक
(९३) स्याद्वादमञ्जरी—मल्लिषेण
(९४) न्यायविनिश्चय विवरण
(९५) वृहत्स्वयमू स्तोत्र—समन्तभद्र
(९६) हारिभद्रीयाष्टक
(९७) योगशास्त्र
(९८) पद्मपुराण
(९९) रामचरित मानस
(१००) अशोक के फूल—डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी
(१०१) ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—आचार्य शंकर
(१०२) अभिधर्म कोष
(१०३) योगदर्शन, व्यासभाष्य
(१०४) योग दर्शन, तत्ववैशारदी
(१०५) योग दर्शन, भास्वती टीका
(१०६) सांख्य तत्व कौमुदी—वाचस्पति मिश्र
(१०७) न्याय भाष्य—वात्स्यायन
(१०८) न्याय मंजरी—जयन्त
(१०९) मीमांसा सूत्र, शावर भाष्य—शबर स्वामी
(११०) तंत्र वार्तिक
(१११) शास्त्र दीपिका
(११२) बाइबिल
(११३) कुरान शरीफ
(११४) अभिधर्म कोष
(११५) गोम्मट सार—आचार्य नेमिचन्द्र
(११६) आत्म-मीमांसा—पं० दलसुख मालवणिया
(११७) आप्त मीमांसा—आचार्य समन्तभद्र
(११८) पंचास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द

(११९) पञ्चाध्यायी—प० राजमल्ल
(१२०) लोक प्रकाश—विनय विजय
(१२१) गणधरवाद—गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद
(१२२) विशुद्धिमग्ग
(१२३) शान्तिशतकम्
(१२४) द्वात्रिंशिका
(१२५) षट्दर्शन समुच्चय टीका
(१२६) महावीर जीवन दर्शन—देवेन्द्रमुनि
(१२७) प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति—आचार्य नमि
(१२८) प्रवचनसार
(१२९) प्रशस्तपाद भाष्य—प्रशस्तपाद
(१३०) माठर वृत्ति
(१३१) कठोपनिषद्
(१३२) मिलिन्द प्रश्न
(१३३) कथावस्तु
(१३४) भारतनाम कोष
(१३५) उपदेशमाला, दोघट्टी टीका
(१३६) जैन—भावनगर
(१३७) कर्मवाद एक अध्ययन —सुरेश मुनि
(१३८) समाज और संस्कृति—उपाध्याय अमर मुनि
(१३९) श्री अमर भारती, आगरा
(१४०) प्रवचन सारोद्धार
(१४१) धवल सिद्धान्त, धवला टीका
(१४२) अभिधान चिन्तामणि
(१४३) तिलोयपण्णत्ति
(१४४) वसुदेव हिण्डी
(१४५) गतागतो स्तोक
(१४६) दशाश्रुतस्कंध—श्री घासीलाल जी म०
(१४७) नवतत्त्व साहित्य संग्रह
(१४८) स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग—प० दलसुख मालवणिया
(१४९) नियमसार—आचार्य कुन्दकुन्द

(१५०) जैन दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता
(१५१) प्रज्ञापना टीका
(१५२) विनयचन्द चौबीसी
(१५३) तत्वार्थ सूत्र- पं० सुखलाल जी का विवेचन
(१५४) तत्त्वार्थ सूत्र—सर्वार्थ सिद्धि
(१५५) तत्त्वार्थ सूत्र—सिद्धसेनवृत्ति
(१५६) तत्त्वार्थ सूत्र—श्रुतसागरीयावृत्ति
(१५७) नवतत्त्व प्रकरण
(१५८) नव पदार्थ
(१५९) जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व
(१६०) जैनभारती—कलकत्ता
(१६१) धनञ्जय नाममाला
(१६२) महावीर कथा
(१६३) जयधवला भाग–१
(१६४) सुत्तागमे
(१६५) सप्ततिशत स्थान प्रकरण—सोमतिलक सूरि
(१६६) आवश्यक भाष्य
(१६७) ऋग्वेद
(१६८) नीतिशतक
(१६९) चाणक्य नीति
(१७०) अमितगतिश्रावकाचार
(१७१) धर्मरत्न प्रकरण
(१७२) समीचीन धर्मशास्त्र
(१७३) द्वादश अनुप्रेक्षा
(१७४) यशस्तिलक चम्पू
(१७५) भाव संग्रह
(१७६) गुणभद्र श्रावकाचार
(१७७) दान प्रदीप
(१७८) कार्तिकेयानुप्रेक्षा
(१७९) आचार्य अमितगति

(१८०) सुखविपाक
(१८१) उपासकदशाङ्ग
(१८२) रायपसेणीय सुत्त
(१८३) द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका
(१८४) प्रमाणनयतत्त्वालोक—वादिदेव सूरि
(१८५) माध्यमिक कारिका
(१८६) पटिसंभिदा
(१८७) कौषीतकी उपनिषद
(१८८) चरक संहिता
(१८९) तत्त्व संग्रह
(१९०) न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना
(१९१) मागन्दिय सुत्त
(१९२) कुमारपाल प्रतिबोध—सोमप्रभाचार्य
(१९३) शिव गीता
(194) The wonder world of why and how
(१९५) धर्म बिन्दु—आचार्य हरिभद्र
(१९६) धर्म रत्न प्रकरण—महामहोपाध्याय मानविजय गणि
(१९७) श्राद्धगुण विवरण—जिनमण्डन गणी
(१९८) तत्त्वानुशासन
(१९९) अध्यात्म संग्रह—उपाध्याय यशोविजय
(२००) अष्टसहस्री—विद्यानन्दी
(२०१) अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका—आचार्य हेमचन्द्र
(२०२) जैनसूत्रों की भूमिका—हरमन जैकोबी
(२०३) समराइच्चकहा—आचार्य हरिभद्र
(२०४) नन्दीसूत्र—मलयगिरि वृत्ति
(२०५) पंचास्तिकायटीका—श्री अमृतचन्द्र
(२०६) सन्मतितर्क—सिद्धसेन